ISSN : 0976 - 3287

Combined Issue
Vol. 30 (July 2021-Dec 2021)
Vol. 31 (Jan 2022-Jun 2022)

JOURNAL

of

ACHARYA NARENDRA DEV RESEARCH INSTITUTE

Peer - Reviewed

Earlier listed in UGC Approved Journal No. 48030

UGC Care list Group D Multidiciplinary

S.N. 12 till Sep. 2019

Editor-in-Chief

Dr. Neeta Bora Sharma

Editors

Dr. Hardesh Kumar

Medha Nailwal

Utkersh Bora

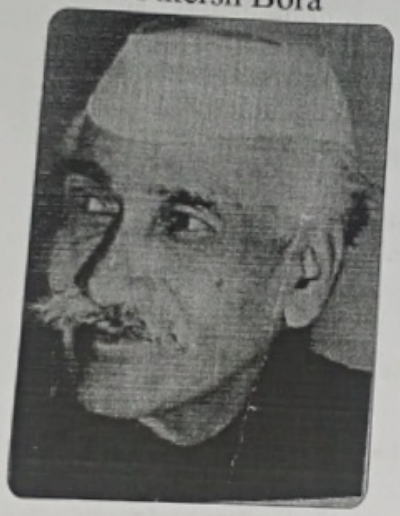

Acharya Narendra Dev Research Institute, Nainital

उपनिषदों में वर्णित जीविकोपार्जन के साधन

डॉ० सन्जा भट्ट*, कु० निर्मला**

सारांश

भारतीय धर्म, सभ्यता, संस्कृति तथा कला आदि के विकास तथा उन्नति में उपनिषदों का महत्वपूर्ण स्थान है। उपनिषद् का मूलाधार वेद ही है। उपनिषद्कालीन युग में जीवन की आवश्यकताएँ पूर्ण करने हेतु व्यक्ति बहुत कुछ स्वयं ही समर्थ होता था।उपनिषद् के आर्थिक जीवन का प्रमुख आधार कृषि तथा पशुपालन थे। विभिन्न प्रकार के स्वाद वाली सरसों, तिल आदि फसलों को उगाना इस युग में प्रारम्भ हो गया था। इस युग में कृषि करने से आर्थिक आत्मनिर्भरता और सम्पन्नता के द्वार खुले। अन्न को ब्रह्म की संज्ञा दी गई थी। उसी से प्राणी उत्पन्न होते हैं और उसी पर जीवित रहते हैं। औपनिषदिक समाज में कृषि तथा पशुपालन ही 'विश्' के प्रमुख कार्य थे तथा वे सभी वर्णों के साथ सम्बन्ध रखते थे। उपनिषदों में जीविकोपार्जन के प्रमुख केन्द्र वैश्य थे किन्तु आजीविका के निर्वाह के लिए कृषि, पशुपालन, धातु उद्योग, वस्त्र–उद्योग, भेषज निर्माण, यातायात, व्यापार आदि उद्योग भी प्रचलित थे। कृषि की उन्नति पशुपालन के व्यवसाय पर प्रकाश डालती है। उपनिषद्काल में पशुपालन तथा कृषिकर्म इन द्विविध व्यवसायों द्वारा समाज की प्रमुख आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी।

मुख्य शब्द– उपनिषद् , कृषि , पशुपालन, धर्म, सभ्यता, संस्कृति, कला, ऋक्संहिता, वाजसनेयी संहिता, कृष्ण, यजुर्वेद, छान्दोग्योपनिषद, कठोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, ऐतरेयोपनिषद

प्रस्तावना

भारतीय धर्म, सभ्यता, संस्कृति तथा कला आदि के विकास तथा उन्नति में उपनिषदों का महत्वपूर्ण स्थान है। उपनिषद् का मूलाधार वेद ही हैं। उपनिषद्कालीन युग में जीवन की आवश्यकताएँ पूर्ण करने हेतु व्यक्ति बहुत कुछ स्वयं ही समर्थ होता था।

उपनिषद् के आर्थिक जीवन का प्रमुख आधार कृषि तथा पशुपालन थे। विभिन्न प्रकार के स्वाद वाली सरसों, तिल आदि फसलों को उगाना इस युग में प्रारम्भ हो गया था। इस युग में कृषि करने से आर्थिक आत्मनिर्भरता और सम्पन्नता के द्वार खुले। अन्न को ब्रह्म की संज्ञा दी गई थी। उसी से प्राणी उत्पन्न होते हैं और उसी पर जीवित रहते हैं–

'अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजा प्रजायन्त इति।'

उपनिषद्काल में समाज का बड़ा वर्ग कृषि में प्रवृत्त था। इसमें अधिकांशतः वैश्य लोग थे। शूद्रों में श्रम का विनियोग वे इसी दिशा में करते थे।[1] मनुष्य अपने परिश्रम से कृषि को समुन्नत बनाते थे।

उपनिषदयुग में कृषि मुख्य रूप से वर्षा पर निर्भर थी। ऋषियों ने जल को अन्न से श्रेष्ठ बताया क्योंकि जब वृष्टि अच्छी नहीं होती थी तो कम अन्न उत्पन्न होता था–

'आपो का अन्नाद् भूयस्यस्माद् यदा सुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीत्यथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः प्राणाः भवत्यन्नं बहु भविष्यतीति' (3)।

अन्न की प्राप्ति मुख्यतः बारिश पर निर्भर थी। अतः प्रारम्भ से लेकर आज तक कृषि मुख्य रूप से वर्षा पर आधारित है। इसके साथ ही अन्य साधनों द्वारा भी सिंचाई करने की परम्परा सदा से ही विद्यमान रही है। उपनिषदों में प्राच्य और प्रतीच्य नदियों का सन्दर्भ मिलता है। ये नदियाँ सफेद बर्फीले पर्वतों से पूर्व, पश्चिम तथा भिन्न–भिन्न दिशाओं से बहती थीं।–

'अक्षस्य प्रशासने गार्गी प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमन्वेतस्य (बृहदारण्यकोपनिषद् 3/8/9)।

इस वर्णन से ज्ञात होता है कि नदियों में वर्ष पर्यन्त पानी रहता था क्योंकि उपनिषद् युग जनपदीय युग था। जनपद नदियों के किनारे बसे होते थे। इसलिए वर्षपर्यन्त बहने वाली नदियों का जल कृषि के लिए प्रयोग में लाया जाता था। प्राकृतिक नदियों के साथ–साथ मनुष्य द्वारा निर्मित तालाबों तथा प्राकृतिक झीलों का भी सिंचाई के लिए प्रयोग किया जाता था। पुष्पकारिणी (झीलों) तथा वेशान्ता (तालाबों) का सन्दर्भ भी इस वाङ्मय में मिलता है–

'तत्र वेशान्ताः पुष्पकारिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्ता'।[2]

* असि० प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, डी०एस०बी० परिसर, कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल।

** शोधच्छात्रा, संस्कृत–विभाग, डी०एस०बी० परिसर, कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल।

उपनिषदयुग में विभिन्न युक्तियों से अन्नोत्पादन किया जाता था। हल का प्रयोग ऋक्संहिताकाल से ही प्रचलित था (ऋग्वेद 10/71/9)। वाजसनेयी संहिता में इसे 'सीर' कहा जाता था। यद्यपि उपनिषदयुग भी लोहे के प्रयोग से भली–भाँति परिचित था। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा में छः अथवा बारह बैलों द्वारा खींचे जाने का वर्णन है। यह हल अत्यन्त भारी होता था जिसकी फाले लकड़ी की न होकर लोहे की बनी थीं। इससे स्पष्ट होता है कि उपनिषद् युग में लोहे की फाल का प्रयोग खेत जोतने के लिए किया जाता था। इस युग में कृषक ऐसी भूमि पर भी खेती करने लगे थे जो कठोर होती थी। अतः इस युग में कृषि के महत्व को समझा जाने लगा।

उपनिषदों में दस ग्रामीण अन्नों का सन्दर्भ मिलता है–

'दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति व्रीहियवास्तिमाशा अणुप्रियंगवो गोधूमाश्चमसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च तान् पिष्टान् दधानि मधुनि घृत उपसिञ्चति। व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामकाद्वा श्यामकतण्डुलाद्वैव (बृह0उप0 6/4/13 तथा छान्दोग्योपनिषद् 3/14/3)। व्रीहि, धान, जौ, तिल, माश, अणु, कांगनी, गेहूँ, मसूर, खल्व अथवा खलकुल इन दस प्रकार के अन्नों की खेती का वर्णन उपनिषद् वाङ्मय में मिलता है। इस प्रकार कृषि कर्म समाज को बलवान् बनाता था। यदि कृषि सफल है तो समाज भी धन–धान्य से सम्पन्न है। कृषि के अभाव में समृद्धि समाज से भाग जाती है। राष्ट्र में यदि दीप्ति आती है तो कृषि से जिस देश में विपुल धन–धान्य उत्पन्न होता है वह विश्व में ऊँचा सिर करके खड़ा होता है।'

ऋग्वैदिक युग की भाँति इस युग में भी पशुपालन की परम्परा विद्यमान थी। कृषि क्रान्ति के कारण उपनिषदयुग में उन्हें कृषि कर्म करने हेतु पाला जाता था। कृषि के विकास, यातायात तथा दुग्ध, घृतादि पौष्टिक वस्तुओं की सम्प्राप्ति हेतु पशुओं की भूयसी महत्ता थी। पशुओं से सम्पन्न व्यक्ति पशुमान् कहलाता था–'पशुमान् भवति य एतदेवं विद्वान् पशुषु' (बृह0उप01/4/10)

पशु दो प्रकार के होते थे। लोमयुक्त तथा लोमरहित – 'लोमशामजात्यादियुक्ता मन्यैश्चपशुभिः संयुक्ता।' भेड़ बकरी लोम वाले तथा अन्य गाय, भैंस, हाथी,घोड़ा आदि बिना लोम वाले पशु थे। पञ्चविधसामोपासना में बकरे को हिंकार भेड़ को प्रस्ताव, गौ को उद्गीथ तथा अश्व को प्रतिहार कहा है (छान्दाग्योपनिषद् 2/6/1)।

उपनिषदयुगीन समाज में गौ' का महत्वपूर्ण स्थान था। इस युग में राजाओं के साथ–साथ गृहस्थ तथा तत्त्ववेत्ता ऋषि भी पशुओं को पालते थे। गौओं को दान में देने की प्रथा थी। राजा जानश्रुति पौत्रायण ने गाड़ीवान् रैक्व को पहले छः सौ गौएँ तथा बाद में एक सहस्त्र गौएँ दीं। 'तदुह जानश्रुति पौत्रायणः शट्शतानि गवाम् । सहस्त्र गवान् (छां0उप0 2/6/1, 4/2/3) राजर्षि विदेहराज जनक स्वानुष्ठित बहुदक्षिणा यज्ञ में एक हजार गौएँ जिनके प्रत्येक सींग में दश–दश सुवर्णपाद बँधे हुए थे। उस ब्रह्मिष्ठ ऋषि को दान करना चाहते थे जो सर्वश्रेष्ठ हो –

'जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कः स्विदेशां ब्राहमणानामनूचान तम इति स ह गवांसहस्त्रमवरूरोध दश–दश पादा एकैकस्या शृग्ड्योराबद्ध बभूवुः (बृह0 उप0 3/1/1)।

अतः उपनिषदयुगीन अर्थव्यवस्था में पशु ही धन थे। इसके अतिरिक्त मनुष्य का जीवन तो पश्वन्न अर्थात् दूध पर ही अवलम्बित था। नवजात शिशु तथा नवजात बछड़े दोनों ही गौ का दूध पीकर ही जीवन धारण करते थे–'पयोहोवाग्रे मनुष्याश्च पशवश्चोपजीवन्ति' (बृह0उप0 1/5/2)। अतः उपनिषदयुगीन समाज में गौएँ धन (जीविकोपार्जन) का पर्याय थीं। इसके साथ ही तत्युगीन समाज में ऋषभ अर्थात् बैलों का भी महत्वपूर्ण स्थान था। बैलों को जोतने की प्रक्रिया तत्कालीन समाज में थी। बैलों को रथ, गाड़ी, हल आदि में भी जोता जाता था। बैल को जब गाड़ी में जोता जाता था तो उसकी प्रयोग्य संज्ञा हो जाती थी–'यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्ता' (छां0 उप0 6/12/3), अतः ऋषभ खेती के लिए महत्वपूर्ण था जो आवागमन के लिए भी उपादेय था। इसके साथ ही हस्ति, अश्व, अवि (भेड़) आदि पशुओं का पालन तत्कालीन समाज में किया जाता था।

उपनिषदयुग में कृषि तथा पशुपालन के साथ बहुविध शिल्प तथा व्यवसायों का विकास भी हो गया था। लोक में शिल्प का अर्थ मिट्टी इत्यादि से विभिन्न प्रकार के खिलौने बनाना, दर्पणादि बनाना, कपड़ा बुनना, सुवर्णमय कटकमुकुटादि बनाना, अश्वतरीरथादि बनाना था (ऐतरेय ब्राह्मण 6/301)। इन सभी को मानव अर्थात् मानुष शिल्प के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। इस प्रकार मिट्टी के बर्तनों को बनाने की परम्परा तत्कालीन समाज में विद्यमान थी। वस्तुतः उपनिषदयुग कृषिक्रान्ति का युग था। फलस्वरूप अग्नि में पके हुए मृद्भाण्डों का निर्माण इस युग में आरम्भ हो गया था। दूध गर्म करने और भोजन पकाने की आवश्यकता ने जन्म लिया। इस प्रकार मृद्भाण्डों के अविष्कार को भी कृषि के आविर्भाव के निर्धारण में उपयोगी पाया जा सकता है।' इसके साथ ही मिट्टी के बर्तनों को अग्नि में पकाने के साथ–साथ ईंटों को भी बनाने तथा पकाने से यह युग परिचित था। ईंटों के लिए 'कठोपनिषद' में 'इष्टिका' शब्द का प्रयोग मिलता है–'लोकादिमग्निं तमुवाच

तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा' ।'

मृद्भाण्डों के व्यवसाय के साथ तत्कालीन समाज में जीविकोपार्जन के लिए वस्त्रोद्योग में रोम वाले पशुओं से ऊन निर्मित किया जाता था। ऊनी कपड़ों को रंगकर तैयार किया जाता था। ऊन के लिए आविक शब्द मिलता है– 'यथा महारजनं वस्त्रे यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्र गोपो' (बृह0 उप0 2/3/6) इस सन्दर्भ में ज्ञात होता है कि ऊनी वस्त्र विशिष्ट अवसरों पर पहने जाते थे तथा ये वस्त्र कढ़ाई वाले होते थे। वस्त्रोद्योग के साथ धातुओं का प्रयोग भी इस युग में होता था। जिसमें लोहा, त्रपु (टिन), कंस (काँसा) सीसा, सुवर्ण, रजत आदि का समवेत कथन मिलता है (छां0उप0– 4/17/7)। इन धातुओं से बने बर्तनों, गहनों आदि को बेचकर लोग अपनी जीविका चलाते थे।

उपनिषद्युग वनस्पतियों के भैषज्य प्रयोग से भी परिचित था। छान्दोग्योपनिषद् में 'भेषजकृत' (छां0 उप0 4/17/8) शब्द का अर्थ है – चिकित्सक। चिकित्साविज्ञान का प्रारम्भ ऋग्वैदिक युग में ही हो गया था। अथर्ववेद तथा उपनिषदों तक आते–जाते भैषज्य विज्ञान का विषद प्रसार हो गया था। प्रारम्भिक युग की भाँति ही उपनिषद्काल में भी भिषजों के द्वारा औषधि चिकित्सा की जाने लगी थी। प्रकृति की गोद में पैदा हुए मनुष्य का जीवन वनस्पतिमय था। अपनी दैनन्दिनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह उन्हीं का प्रयोग करता था। आहार शय्या आदि से लेकर सभी कार्यों में विभिन्न वनस्पतियों का प्रयोग होता था। यज्ञशाला के निर्माण से लेकर यज्ञ की परिधि, यूप तथा विविध पात्रों तक में वनस्पतियों का प्रयोग होता था। अतः उपनिषद्कालीन समाज में यूप, परिधि, दण्ड, चमस, स्रुवः आदि उपकरण वनस्पतियों द्वारा ही निर्मित किए जाते थे–

'चतुरौदुम्बरो भवत्योदुम्बरः स्रुवः औदुम्बराश्चमस औदुम्बर इध्म औदुम्बर्य उपमन्थनी'। (बृह0उप0–6/3/13)

ऋषियों ने मनुष्य के शारीरिक दोषों के निवारणार्थ भी प्राकृतिक वातारण में उपलब्ध वनस्पतियों को ही औषधि के रूप में प्रयोग करना आरम्भ किया। उपनिषद्काल में अक्ष, अश्वत्थ, वृक्ष, पलाश, पुष्करपलाश, पुण्डरीक, पिप्पल वृक्ष, आम्रवृक्ष आदि का उपयोग औषधि हेतु किया जाता था। इस प्रकार उपनिषदों में औषध वनस्पतियों का विवरण उपलब्ध होता है। इस भैषज्य विज्ञान की औषधियों का विक्रय करके भी तत्कालीन समाज के व्यक्ति अपनी जीविका चलाते थे।

उक्त के अतिरिक्त उपनिषद्काल में यातायात की समस्या नहीं थी। यात्राएँ जल तथा थल दोनों मार्गों से होती थी। थल मार्ग के लिए उपनिषदों में 'महापथ' शब्द का प्रयोग मिलता है। ये महापथ समीपवर्ती तथा दूरस्थ मार्गों को जोड़ते थे, जिससे विभिन्न ग्रामों में पैदा होने वाले अन्न तथा मनुष्यों द्वारा निर्मित वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में सुविधा होती थी–

तद्यथा महापथसमीपवर्ती आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुम् (छा0उप0 8/6/2) उपनिषद्काल में यातायात के साधनों में अनस् (गाड़ी), शकट (गाड़ी छकड़ा, तौल) आचरण (गाड़ी में जोते जाने वाले पशु–घोड़ा, बैल आदि) वाह (अश्व) रथ, नौका प्रमुख थे। इन यातायात के साधनों का प्रयोग भार ढोने, यात्राएँ तथा व्यापार के लिए किया जाता था।

उपनिषद्काल में वित्तोपार्जन हेतु वैश्य वर्ग व्यापार करता था (बृह0 उप0 1/4/11 शां0 भा0)। वाणिज्य हेतु वैश्यगण एकाकी प्रवृत्ति नहीं अपनाते थे अपितु व्यापारियों के दल सामुदायिक रूप में व्यापार करते थे। यद्यपि देवों में वसु, रूद्र, आदित्य विश्वेदेव तथा मरूत इत्यादि देवगण 'गणशः' कहलाते हैं तथा देवों में ये ही वैश्यों के प्रतिनिधि देव हैं–

'स नैव व्यभवत्स विशमसृजत देवजातानि गणशः आख्यायन्तो वसवो रूद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरूत इति' (बृह0उप0 1/4/12)

इस प्रकार 'गण' शब्द का प्रयोग कार्य विशेष के लिए संगठित समान गुण वाले व्यक्तियों के अर्थ में हुआ है। गणशः देवता और विशः सदैव एक दूसरे से युक्त रहते थे। जैसे अश्विनी कुमार युग्म (जुड़वाँ) देवता हैं तथा वे कभी वियुक्त होने वाले नहीं हैं। 'द्वितीयत्व' तथा 'अनुपगत्व' इनके विशिष्ट गुण हैं–

'द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते द्वितीयवान्ह भवति नास्मादगणश्चिद्यते'– (बृह0उप0 2/1/11)

इसी प्रकार ये विश् भी सदैव परस्पर एक दूसरे से जुड़े होते हैं। अपने गण में रहकर कार्य करते हैं। उपनिषद्काल में आर्थिक संस्थाओं की प्रसिद्ध संस्था 'विश्' थी। ये 'विश्' मरूतों के गणप्राय थे। प्रसिद्ध विद्वान् अल्तेकर (10), इतिहासविद् के0 पी0 जायसवाल (11) तथा वेणीप्रसाद (12) ने ग्रामों के समुदाय को 'विश्' कहा है। कालान्तर में रथकारों, कर्मकारों, कृषकों, पशुपालकों के 'विश्' थे। अतः 'मरूत्' और 'विश्' उपनिषद्काल में उत्पाद्य कर्म कृषि कर्म से जुड़े थे, 'गणशः' थे सब मिलकर कार्य करते थे।

इस प्रकार औपनिषदिक समाज में कृषि तथा पशुपालन ही 'विश्' के प्रमुख कार्य थे तथा वे सभी वर्णों के साथ सम्बन्ध रखते थे। उपनिषदों में जीविकोपार्जन के प्रमुख केन्द्र वैश्य थे किन्तु आजीविका के निर्वाह के लिए कृषि, पशुपालन,

धातु उद्योग, वस्त्र–उद्योग, भेषज निर्माण, यातायात, व्यापार आदि उद्योग भी प्रचलित थे। कृषि की उन्नति पशुपालन के व्यवसाय पर प्रकाश डालती है। उपनिषद् काल में पशुपालन तथा कृषिकर्म इन द्विविध व्यवसायों द्वारा समाज की प्रमुख आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी।

अन्त में कहा जा सकता है कि जितनी ज्यादा कृषि तथा पशुपालन की आवश्यकता उपनिषद्कालीन युग में थी उतनी ही वर्तमान युग में भी कृषि तथा पशुपालन की आवश्यकता है। क्योंकि जितनी अधिक जनसंख्या होगी उसके पालन–पोषण के लिए पशुओं तथा अनाज की भी उतनी ही आवश्यकता होगी।

सहायक सन्दर्भ

1. प्रश्नोपनिषद् 1/14, स्वामी त्रिभुवनदास, प्रकाशक–चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, प्रथम संस्करण – 2016
2. उपनिषद्कालीन समाज एवं संस्कृति –डॉ0 राजेन्द्र कुमार त्रिवेदी, प्रकाशक परिमल पब्लिकेशन्स, प्रथम संस्करण – 1983
3. छान्दोग्योपनिषद्– रायबहादुर बाबू, प्रकाशक–चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् 2014
4. बृहदारण्यकोपनिषद्– डॉ0 मनुदेव बन्धु, प्रकाशक– ईस्टर्न बुक लिंकर्स–सन् 1990
5. वैदिक संस्कृति और सभ्यता– मुंशीराम शर्मा, प्रकाशक–चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, सन् 1987
6. तैत्तिरीयोपनिषद्– स्वामी त्रिभुवनदास, प्रकाशन– चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, सन् 2017
7. ऐंतरेयोपनिषद्– स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन् 2017
8. हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य– भगवान सिंह, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, सन् 1987
9. कठोपनिषद्– डॉ0 पुष्पा गुप्ता, चौखम्बा सुरभारती, वाराणसी, सन् 2017
10. अल्तेकर ए0 एस0, स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एन्शियन्ट इण्डिया पृ0 35, 2013
11. के0 पी0 जायसवाल, हिन्दू पोलिटी, पृ0 12
12. वेणीप्रसाद, द स्टेट इन एन्शियण्ट इण्डिया, पृ0 24

संपादक
डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल
डॉ. मीना अग्रवाल

ISSN 0975-735X

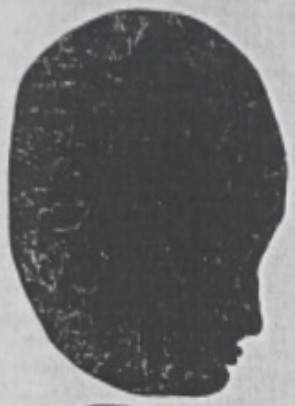

UGC APPROVED CARE LISTED JOURNAL

शोध दिशा

59

उपनिषदों में निहित राष्ट्रिय चेतना

डॉ॰ लज्जा भट्ट
संस्कृत विभाग
कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल (उत्तराखंड)

किसी देश की राष्ट्रभाषा वह होती है जो उस देश की संस्कृति की प्रतीक हो, प्राचीन भारत की संस्कृति की प्रतीक संस्कृत भाषा है। संस्कृत भाषा भारतीयों की प्राणभूत भाषा है तथा संस्कृत भाषा में ही उनका मनन, चिंतन, गवेषण तथा अनुभूति समन्वित है। इसमें विश्व का प्राचीनतम साहित्य, सभ्यता तथा संस्कृति उपलब्ध है। वेद तथा उपनिषद् विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ हैं यहाँ पर सर्वप्रथम राष्ट्रियता का जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया है उसे यदि उद्घाटित किया जाए तो ज्ञात होगा कि राष्ट्र अथवा राष्ट्रियता की उससे बढ़कर कोई कल्पना नहीं की जा सकती है।

'राष्ट्र' शब्द की व्युत्पत्ति 'राज्' धातु से हुई है जिसमें औणादिक 'ष्ट्रन्' प्रत्यय लगता है– 'सर्वधातुभ्य:ष्ट्रन्' (सिद्धांतकौमुदी-उणदि प्रकरण 4/158) इसका तात्पर्य है–'राजते दीप्यते प्रकाशते शोभते इति राष्ट्रम्' अर्थात् स्वयं दैदीप्यमान होने वाला राष्ट्र कहलाता है। अथवा विविध वैभवों से सुशोभित देश राष्ट्र कहलाता है। वैदिक वाङ्मय में 'राष्ट्र' शब्द 'राष्ट्रम्', 'राष्ट्राणि', 'राष्ट्रेण', 'राष्ट्राय', 'राष्ट्रात्', 'राष्ट्रस्य', 'राष्ट्रानाम्', तथा 'राष्ट्रे' इन विभक्तियों में अनेकश: प्रयुक्त हुआ है। 'राष्ट्रकामाय', 'राष्ट्रपदा', 'राष्ट्रदित्सु', 'राष्ट्रभृत' तथा 'राष्ट्रभृताय' आदि समस्त पदों में भी राष्ट्रपद का प्रयोग मिलता है।

'तैत्तिरीय संहिता' में कहा गया है–प्रजा राष्ट्र है, पशु राष्ट्र है तथा जो कुछ श्रेष्ठ है वह राष्ट्र है–'राष्ट्र प्रजा राष्ट्र पशवो राष्ट्रयच्छ्रेष्ठो भवति' (तैत्तिरीय॰ 3/4/82)

एक अन्य स्थल पर कहा गया है–'राष्ट्र पर्ण है तथा प्रजा अश्वत्थ है'। जिस प्रकार पत्ता वृक्ष पर आश्रित होता है उसी प्रकार 'राष्ट्र' प्रजा पर आश्रित होता है (तैत्तिरीय॰ 3/5/75)

अपने राष्ट्र की भूमि, जनसमूह, इतिहास, धर्म, साहित्य, कला, राजनीति आदि के प्रति लोगों के मन में गरिमा तथा महिमा का जो नैसर्गिक स्वाभिमान होता है उसे राष्ट्रभक्ति की संज्ञा दी जाती है। यही वह भक्ति है जिसके वशीभूत होकर लोग स्वयं को अपने राष्ट्र के लिए न्योछावर कर देते हैं। इस अविस्मरणीय तथा रोमांचकारी बलिदान के पीछे जो एक प्रबल तथा अदम्य भावना काम करती है, वह राष्ट्रिय चेतना ही होती है (संस्कृत साहित्य में राष्ट्रिय भावना, डॉ॰ हरिनारायण दीक्षित, पृ॰ 35) देशभक्ति से प्रेरित होकर किए जाने वाले कार्य ही देशभक्ति के विभिन्न प्रकारों को स्पष्ट करने में समर्थ होते हैं।

उपनिषदों में संपूर्ण विश्व को ही राष्ट्र के रूप में उल्लिखित किया गया है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उदात्त भावना से अनुप्राणित उपनिषदों में भौगोलिक भेद से विभक्त किसी भूखंड अथवा देश की संकीर्ण सीमा को राष्ट्र की महनीय संज्ञा प्रदान नहीं की गई है। उपनिषदों के मतानुसार विशाल 'राष्ट्र' का राजा वही हो सकता है जो विश्व की समस्त प्रजा को प्रिय हो। ऐसे

ISSN 0975-735X

एकछत्र तथा सार्वभौम सम्राट के सुदृढ़ हाथों में सुरक्षित राष्ट्र कभी भ्रष्टाचार के गर्त में नहीं गिरेगा।

राजा शब्द उपनिषदों में अनेकशः प्रयुक्त हुआ है। यह राज्+कनिन् (राजन्ते, शोभते) से निष्पन्न होता है। लोकभाषा में इसका अर्थ किसी देश, मंडल अथवा जाति का शासक, नियामक, नरेश, क्षत्रिय आदि है। क्षत्रिय होने के कारण राजा का प्रमुख कर्तव्य रक्षा करना है। उपनिषद्युगीन समाज में राजा राज्य का मूर्धा (मस्तक) होता था (बृहदारण्यकोपनिषद् 2/1/2) राज्य में राजा की सत्ता सर्वोपरि होती थी। 'यथा राजा तथा प्रजा' से युक्त भावना विद्यमान थी। जो राजा तेजस्वी होता था उसकी प्रजा भी तेजस्वी होती थी–

'तेजस्वी ह भवति तेजस्विनी ह अस्य भवति' (बृहदारण्यकोपनिषद् 2/1/3)

उपनिषदों का दृष्टिकोण है कि राजा प्रजाओं द्वारा चुना हुआ होना चाहिए तथा राजा को प्रजा के नियंत्रण में रहना चाहिए। उपनिषदों में वर्णित है कि राजा अथवा सम्राट शब्द वंशानुगत राजा का वाचक नहीं है। राजा प्रजाओं द्वारा चुने हुए राष्ट्राध्यक्ष अथवा राष्ट्रपति का वाचक है। अतः तत्कालीन समाज में राजा का चुनाव होता था तथा कोई भी व्यक्ति राजपद को प्राप्त कर सकता था। साथ ही निर्वाचित राजा का राज्यभिषेक किया जाता था।

राजा का उद्देश्य व्यक्ति की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति तक सीमित नहीं था। वह पारलौकिक जीवन की सुख-समृद्धि हेतु धार्मिक आयोजनों तथा विद्या के प्रचार हेतु भी सचेष्ट रहता था–'राजा प्रकृतिकृतो लोको महात्मना रंजिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्दायते' (बृहदारण्यकोपनिषद् 8/32) वैदिकयुग की भाँति इस युग में भी घुड़दौड़, रथदौड़ आदि सामूहिक मनोरंजन के लोकप्रिय साधन थे। राजसूय यज्ञ के अवसर पर विशेष रूप से इनका आयोजन किया जाता था। इस घुड़दौड़ में भाग लेकर राजा विजय प्राप्त करता था। इसके साथ-साथ प्रजारंजन के लिए जनपदों में हितकारिणी अर्थव्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य था। उपनिषद्युगीन राजा आर्थिक तथा धार्मिक महत्त्व के कारण अपने राज्यों में पशुधन तथा गोधन का संरक्षण तथा संवर्धन करते थे। प्रजा के कल्याणार्थ धर्मशालाओं का निर्माण करते थे।

राजा जानश्रुति पौत्रायण ने अपने राज्य में स्थान-स्थान पर यात्रियों के लिए धर्मशालाओं का निर्माण किया था। राजा श्रद्धापूर्वक दान देते थे। उनके यहाँ अन्न पकता था जिससे जो भी यात्री एवं अतिथि धर्मशालाओं में ठहरें वे सभी निःशुल्क भोजन ग्रहण कर सकें। (छान्दोग्योपनिषद् 4/1/6) इसके साथ ही कैकेय जनपद एक आदर्श जनपद था तो कैकेयराज अश्वपति महान् एवं कुशल प्रशासक थे। वे यज्ञप्रिय तथा दानी थे। राजा होते हुए भी राजर्षि थे। वे वैश्वानर संज्ञक आत्मा के विशेषज्ञ थे। अतएव धन-धान्य से परिपूर्ण इस युग का यह अनुपम एवं आदर्श जनपद था। इस प्रकार समाज के नैतिक उत्थान का भार उठाना राजा का कर्त्तव्य था।

संहिताकालीन राज्य-व्यवस्था में सभा तथा समिति की दो संस्थाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान था। अथर्ववेद में सभा एवं समिति को प्रजापति की दो पुत्रियाँ कहा गया है–'सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने (अथर्व॰ 7/12/1)

'छान्दोग्योपनिषद्' में सभा शब्द प्रजापति के सभागृह के अर्थ में प्रस्तुत हुआ है–'प्रजापतेः सभा वेश्म' (छान्दोग्योपनिषद् 8/14/1), अतः सभा में विद्वान् एकत्रित होकर विचार करते थे। सभा का अर्थ है लोगों का एक निश्चय हेतु, समान रूप से एक साथ चमकना अर्थात् अपने विचारों को प्रकाशित करना–'सह भान्ति जना एकनिश्चययार्थ यत्र'।

समिति राष्ट्र की सबसे बड़ी सभा होती थी। इसको समिति इसलिए कहा जाता था क्योंकि

इसमें सभी वर्गों के लोग एकत्रित होते थे। यह जनसाधारण की राष्ट्रिय सभा थी। समिति का महत्त्वपूर्ण कार्य था–राजा का निर्वाचन करना, छान्दोग्योपनिषद् के आधार पर कहा जा सकता है कि सभा तथा समिति दोनों राजनीतिक संस्थाएँ थीं। उत्तम शासन-व्यवस्था के लिए यह आवश्यक माना जाता था कि राजा का सभा तथा समिति में उचित समन्वय हो। अत: सभा और समिति राजव्यवस्था की दो महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ थीं। उत्तम शासन व्यवस्था के लिए यह आवश्यक माना जाता था कि राजा का सभा तथा समिति में उचित समन्वय हो। अत: सभा और समिति राजव्यवस्था की दो महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ थीं।

आंतरिक राज्य-व्यवस्था के अतिरिक्त बाहरी आक्रमण से बचने के लिए किस प्रकार युद्ध नीति अपनाई जाए, इस विषय में वेदों के साथ-साथ उपनिषदों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। संग्राम में दुंदुभी घोष किया जाता था। दुंदुभि एक ऐसा वाद्ययंत्र है जिस पर दंडादि से ताड़न किए जाने पर ध्वनि उत्पन्न की जाती थी। दुंदुभि में जब दंड से आघात करते हैं तो उससे शब्द निकलकर बाहर आते हैं–स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न वाह्यञ्शब्दाञ्शवनुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीत:। (बृहदारण्यकोपनिषद् 2/4/7, 4/5/8)

दुंदुभी की भाँति तत्कालीन समाज में युद्ध की घोषणा हेतु शंख भी बजाया जाता था–'स यथा शंखस्य तु ग्रहणेन शंखध्मस्य वा शब्दो गृहीत:। (ऐतरेयारण्यक 2/4/8)

युद्ध की घोषणा करने के लिए उक्त वाद्यों को बजाया जाता था। इन्हें बजाने से शत्रुओं के हृदय में व्याकुलता, उदासीनता, द्वेष तथा भय उत्पन्न किया जाता था। अत्यधिक दूर स्थित शत्रु के नाश में भी दुंदुभी को समर्थ माना गया है। दुंदुभी आदि को शत्रु को परास्त करने में सहायक तथा वीरों को आनंद देने वाला, युद्ध में विजयी तथा वीरों को आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करने वाला माना गया है। (अथर्ववेद 5/2०/12)

दुंदुभी के समान सेना का अपना सेनाध्वज भी होता था। उस राष्ट्रिय ध्वज का चिह्न सूर्य था तत्कालीन समाज में बाह्य सुरक्षा का हल सेना द्वारा किया जाता था। सैन्य उपकरणों में रथ, अश्व, धनुष, बाण, परशु आदि का विशेष महत्त्व था। रथ की चर्चा प्रकारांतर से विविध स्थानों पर प्राप्त होती है (कठोपनिषद् 1/3/3, कौषितिकी उपनिषद् 1/4/3/8, छान्दोग्यो० 4/16/3)।

अत: सेना में रथों, अश्वों आदि का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया जाता था। वहाँ उपदेश दिया गया है कि घुड़सवार शत्रुओं को मारें तथा अपने शस्त्रों से शत्रुओं का विनाश करें। तत्कालीन समाज में राष्ट्र की उन्नति तथा विजय में राष्ट्र पुरोहित के प्रयत्न से ही राष्ट्र ज्ञान से युक्त होता है, जिसके द्वारा राष्ट्र के लोगों की उन्नति होती है तथा क्षात्रबल से युक्त होने पर ही राष्ट्र विजयी होता है (बृहदारण्यकोपनिषद् 3/5/1); इसके साथ ही राजा अपने राष्ट्र की सुरक्षा हेतु पुरों का निर्माण करते थे। उपनिषद्ब्राह्मय में नवद्वारों वाले पुर यथा–'नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहि: (श्वेताश्वतरोपनिषद् 3/18); ग्यारह द्वारों वाले पुर यथा–'पूरमेकादशद्वारम्' (कठोपनिषद् 2/2/1)

'आंयसीपुर यथा–'शतं मां पुर आयसीररक्षनथ श्येनो जवसा निरदीयमिति' (ऐतरेयोपनिषद् 4/5) आदि का संदर्भ मिलता है। अत: तत्कालीन समाज में राजा अपने नगर की सुरक्षा हेतु पुर अथवा दुर्ग का निर्माण करता था तथा सामाजिक न्याय एवं कानून प्रणाली को सुदृढ़ बनाने के लिए राजा द्वारा संभवत: लोहे के बने पुरों का उपयोग किया जाता था। मातृभूमि के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उपनिषदों में वर्णन मिलता है–'मातृभूमि विविध सागर, नदियों, झीलों, कुओं, तालाबों, जलाशय आदि से युक्त है, उसमें विविध प्रकार के विपुल अन्नादि उत्पन्न होते हैं। जिसमें

ISSN 0975-735X

सभी कृषक, कारीगर आदि संगठित हैं ऐसी मातृभूमि हमें ऐश्वर्य प्रदान करे। (बृहदारण्यकोपनिषद्, शाङ्कर भाष्य 1/4/12)

जिसकी चारों दिशाएँ अन्न से युक्त हैं, जिसमें विविध प्रकार के प्राणी रहते हैं तथा जो सबका भरण-पोषण करती है। मातृभूमि को ही विभिन्न वस्तुओं यथा–सोना, चाँदी, हीरा, रत्नों आदि की खान माना गया है तथा यह कल्पना की गई है कि सोना पृथ्वी के वक्षस्थल में है। मातृभूमि शूरवीरों, ज्ञानियों तथा हमारा धन धारण करने वाली है (बृहदारण्यकोपनिषद् 4/4/4, 6/4/27, 6/2/7)

उपनिषदों में मातृभूमि से की गई प्रार्थनाओं के संदर्भ भी मिलते हैं जिनमें उसके यश, गुण, तथा ऐश्वर्य का वर्णन किया गया है।

उपनिषद्कालीन समाज में राज-व्यवस्था उत्तम थी तथा राजतंत्र प्रजातंत्र पर आश्रित था। क्योंकि वहाँ राजा के चुनाव होने तथा उस पर प्रजा का प्रतिनिधित्व करने वाली सभा तथा समिति का पूर्ण नियंत्रण होने के वर्णन प्राप्त होते हैं। प्रजा अपने राष्ट्र की उन्नति हेतु राजा को सहयोग देती थी। युद्धादि में विजय-प्राप्ति हेतु यथाशक्य प्रयत्न उसके द्वारा किए जाते थे। अत: राष्ट्रिय भावना के माध्यम से अपने राष्ट्र की समृद्धि, सांस्कृतिक धरोहर, उच्च परंपराओं, आदर्शों, मूल्यों तथा गौरवपूर्ण अतीत से जुड़ने पर मनुष्य अपना योगदान देने के लिए प्रेरित हो सकते हैं। उपनिषदों में हमें उच्चकोटि की देशभक्ति के दर्शन होते हैं, जो नि:स्वार्थ एवं पवित्र राष्ट्रिय भावना पर आधारित है।

उपनिषदों में राष्ट्र की न केवल परिकल्पना ही वर्णित है, अपितु उसके आधारभूत तत्त्व, उपयोगिता, महत्ता तथा उनके प्रति लोगों के दायित्व तथा कर्त्तव्यों का भी उपदेश दिया गया है, जो निश्चय ही उनकी हार्दिक राष्ट्रिय भावना का द्योतक है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उपनिषदों में जो राष्ट्र का, राष्ट्रियता का तथा राष्ट्रिय एकता का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, वह एक आदर्श रूप है। उसका शाश्वत महत्त्व है, उपनिषद्युगीन राष्ट्रवाद के तत्त्वों का ज्ञान यदि लोगों को कराया जाए तो आज राष्ट्र अलगाववाद, पृथक्तावाद, उग्रवाद आदि विविध रोगों से बच सकता है। 'देश के हित के लिए अपने हित का परित्याग' यही औपनिषद्कालीन राष्ट्रवाद का संदेश है।

Lajja Bhatt
Department of Sansrit
Kumaun University, Nainital, 263001 Uttarkaand
Mob. 9412983210, 7088724863
lajjabhatt.dsb@gmail.com

ISSN 0975-735X

ISSN : 2347-9892
UGC CARE Listed (Arts and Humanities)

वैदिक वाङ्मय में मानवमूल्यों का संरक्षण

डॉ0 लज्जा भट्ट
कुमाऊँ विश्वविद्यालय,नैनीताल,उत्तराखण्ड

वेद सम्पूर्ण विश्व के ज्ञान के भण्डार हैं। वैदिक साहित्य तथा तत्वज्ञान के समुज्ज्वल प्रकाश की स्निग्ध किरणें अनादि काल से सम्पूर्ण मानवता को प्रेरित एवं उर्जस्वित करती रहीं हैं। वेदों द्वारा प्राचीनकाल से वर्तमान तक मनुष्य का मार्ग प्रशस्त किया जा रहा है तथा भविष्य के लिए भी यह मार्ग उतना ही प्रकाशमान रहेगा जिससे मानव जाति प्रगति पथ पर अग्रसर रहे। वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं। सृष्टि की रचना के आरम्भ में ईश्वर ने इस ज्ञान को ऋषियों के हृदय में प्रकाशित किया था। वेदों के महत्व को न केवल भारतीय मनीषियों ने अपितु विश्व के सभी विद्वानों विचारकों तथा समालोचकों ने स्वीकार किया है। अतः वेद सम्पूर्ण विश्व की महत्वपूर्ण निधि हैं। वेद हमारे गौरव ग्रन्थ हैं। वेद तथा वेदांग अपने समाहित ज्ञान के द्वारा ही मानव का दिशा–निर्देशन करते हैं क्योंकि वैदिक साहित्य में जो आचार–विचार नैतिकता जीवनमूल्य तथा संस्कार निहित हैं वे सब ज्ञान–विज्ञान के भण्डार हैं। यदि आद्यन्त विश्लेषण किया जाय तो यह निश्चित हो जाता है कि समस्त सामाजिक, सांस्कृतिक आधार से लेकर विज्ञान तक का सार वेदों में निहित है। धार्मिक दृष्टि से वेद भारत में सर्वोपरि हैं। ये हिन्दू धर्म के मूल स्रोत हैं–

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'।

वस्तुतः ये समस्त धर्मों के श्रेष्ठ तत्वों से संवलित हैं, इसीलिए मनु ने इन्हें धर्मशास्त्र का मूल स्रोत कहा है–

यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहतो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।। (मनु 2/7)

वैदिक वाङ्मय सर्वत्र मानव–मूल्यों के संरक्षण से ओत–प्रोत है। यजुर्वैदिक ऋषि द्वारा प्रस्तुत मन्त्र में कहा गया है–

पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्। श्रृणुयाम शरदः शतम्। प्रब्रवाम शरदः शतम्। अदीनाः स्याम शरदः शतम्। भूयश्च शरदः शतात्।[1]

वैदिक ऋषि केवल दीर्घ जीवन की ही कामना नही करता है, अपितु अपने यथोचित कार्यों को करते हुए सौ वर्ष पर्यन्त जीने की कामना करता है।[2] वैदिक ऋषियों की वैचारिक स्वतन्त्रता सर्वप्रमुख मानव–मूल्य संरक्षण की बोधिका है। इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि ऋषि देवताओं के विषय में भी बोलने में संकोच नहीं करता है। ऋषि अंगीरस कहते है–

"इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री" [3]

तथा अन्यत्र कहते हैं–

देवानां तु वयं जाना प्रवोचाम विपन्यया।[4]

इससे अधिक विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता और कहाँ प्राप्त हो सकती है। ऋषि इस स्वतन्त्रता को स्वीकार तो करता है परन्तु वह सत्य एवं सौन्दर्य से युक्त वाणी का ही समर्थक है–

उशो देव्यमर्त्या वि भाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ति।
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णा पृथुपाजसो ये।।[5]

प्रस्तुत मन्त्र में कहा जा रहा है कि उषा उसी वाणी को अपना समर्थन देती है, जिसमें सत्य के साथ सौन्दर्य भी विद्यमान हो। अन्धे को अन्धा कहना सत्य है, परन्तु सुन्दर नहीं। अतः ऋषि की

Scanned with OKEN Scanner

मान्यता है कि मनुष्य को वहीं वाणी बोलने का अधिकार है जिसमें सत्यता के साथ सौन्दर्य भी विद्यमान हो–

अप्रियं सत्यं न ब्रूयात्।

सत्य से आशय है जैसा ज्ञान आत्मा में वर्तमान है वैसा मन में तथा जैसा मन में है वैसा वाणी से कहना अर्थात् यथार्थ रहना–

'यादृशमेव ददृशे तादृगुच्यते सं छायया दधिरे सिध्रयाप्स्वा' (ऋग्.5/44/6)

सत्य के महत्व का प्रतिपादन करते हुए वेदों में सत्य की प्रशंसा में अनेक ऋचाओं का पाठ हुआ है। एक मंत्र में कहा गया है कि सत्य ने भूमि को धारण किया हुआ है–

'सत्येनोत्तभिता भूमिः' (ऋग्.1/85/1)

वैदिक धर्म में 'सत्य' महान वस्तु है। सत्यभाषण, सत्यसंकल्प तथा सत्यकर्म वैदिक धर्म के अपेक्षित आधार स्तम्भ हैं। असत्यभाषण तथा असत्याचरण वैदिक आर्यों की दृष्टि में महापातक है। सत्यमार्ग से ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है–

'ऋतेनैव स्वर्गलोकं गमयति' (तांड्य ब्रा.18/2/19)

असत्यभाषी पुरुष अशुद्ध होता है–

'अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति'

वैदिक ऋषि का विचार है कि जो वाणी पर ले जाने की शक्ति रखती हो तथा जिसमें दिव्य सुख प्रदान करने की शक्ति सन्निहित हो, वही वास्तविक वाणी है।[6] जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ के अनुसार मानव सत्य–असत्य तथा सुन्दर–कुरूप जैसा भी चाहे अपने विचारों की अभिव्यक्ति में स्वतन्त्र है। वैदिक मानव अधिकारों की उपेक्षा एवं संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधिकारों के अनुकरण का दुष्परिणाम आज देखा जा सकता है। संसार से शान्ति मानो पलायन कर गई है। चारों ओर त्राहि–त्राहि का वातावरण है। यजुर्वेद का प्रसिद्ध शिवसंकल्पसूक्त विश्वकल्याण की भावना से ओत–प्रोत हैं–

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।। (यजु 34/1)

कल्याणकारी एवं नैतिक जीवनमूल्यों से सम्बन्धित विविध उदाहरण हमें वेदों में दृष्टिगोचर होते हैं। कल्याणकारी वाणी की कामना करते हुए यजुर्वेद में कहा गया है–

"मै ब्राह्मण के लिए, क्षत्रियों के लिए, शूद्र के लिए, वैश्य के लिए, अपने तथा पराये व्यक्तियों के लिए कल्याण करने वाली प्रिय वाणी बोलूँ। इसमें मैं देवताओं का तथा दान देने वाले का प्रिय हो जाउ। मेरी यह कामना पूर्ण हो।" (यजु. 26/2)

यजुर्वेद का 36वॉ अध्याय शान्तिकरण अध्याय है, जिसमें मानव के लिए सच्ची शान्ति तथा नैतिकता से परिपूर्ण जीवन मूल्य एवं कल्याण को प्राप्त करने के उपायों का वर्णन किया गया है। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि प्राणियों के स्थान का निर्धारण सूर्यदेव ने किया है–जलचर के लिए जल है, पशुओं के लिए मैदान है तथा पक्षियों के लिए वन है अर्थात् सबका कार्यक्षेत्र भी पृथक् है तथा निवास–स्थान भी।[7] परन्तु उक्त सूक्त में **'स्वर्जनन्ती सुभगा सुदंसा'**[8] के द्वारा ऋषि स्पष्ट करता है कि मनुष्य के उन्हीं कार्यों को करना चाहिए जो सुदंसा अर्थात् सुन्दर हों। ऋग्वेद के 10/34 के कितव–सूक्त में ऋषि नाटकीय रूप में जुआरी बनकर द्यूत क्रीड़ा के दुष्परिणामों की सुन्दर व्याख्या करता है तथा अन्त में वह समस्त मानवता को सन्देश देता है कि ऐसे कर्म जो दुष्परिणामी हैं, कदापि नहीं करने चाहिए, अपितु ऐसे कर्म जो उत्पादक से संयुक्त हैं, उन्हें करना चाहिए, यथा–कृषि कार्य क्योंकि वहीं पत्नी, गाय तथा खेत हैं।[9] कृषि कार्य रातों–रात धनी तो नहीं बनाता, जैसा कि द्यूतक्रीड़ा में होता है। कार्य के पीछे नैतिकता की भावना की निहित होनी चाहिए। अन्य को दुःखी करके कार्य करने की स्वतन्त्रता को वेद मान्यता नहीं देता। अतः संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्य करने की स्वतन्त्रता पर वेद अंकुश लगाते हुए कहते हैं कि नैतिक कार्य करने का सबका अधिकार है, अनैतिक नहीं।

परिवारिक सद्भाव को प्रकट करने वाले विविध मन्त्र 'अथर्ववेद में वर्णित हैं। यथा–

सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।। (अथर्व.3/30/1)

हे परिवार के सदस्यो! मैं तुमको एक हृदय वाला, एक मन वाला तथा द्वेष से रहित करता हूँ। तुम एक–दूसरे से इतना प्रेम करो, जितना गौ अपने नवजात बछडे से करती है–

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्च सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।। (अथर्व.3/30/3)

भाई अपने भाई तथा बहिन से द्वेष न करे। बहिन अपनी बहिन से तथा भाई से द्वेष न करे। समान व्रत का पालन करते हुए एक साथ रहते हुए तुम सब परस्पर कल्याणकारी वाणी बोलो।

अनुच्छेद 24 में कार्य के पश्चात् विश्राम करने का भी मानव को अधिकार है। वैदिक ऋषि सवितृ देव के माध्यम से यह बात स्वीकार कर चुका है कि वैदिक ऋषि सवितृ देव के उदय का अर्थ है कार्य करना तथा अस्त से तात्पर्य है कि कितना भी आवश्यक कार्य क्यों न हो उसे छोड़कर विश्राम करना चाहिए।[10] वैदिक मान्यता यह है कि रात्रि विश्राम हेतु है अतः रात्रि में कार्य न करके विश्राम करना चाहिए। परन्तु उक्त मान्यता की अवहेलना के कारण रात्रिभर कार्य करने का दुष्परिणाम अनिद्रा, रक्तचाप, हृदयरोग तथा अपच जैसे घातक रोगों को आज मानव ने अपना अधिकार बना लिया है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के अनुच्छेद 2 एवं 6 में समानता का अधिकार मानव को प्राप्त है। वैदिक मान्यता है कि समष्टि के स्तर पर भौतिक कार्यों के लिए प्रेरित करने वाले तथा व्यष्टि के तल पर बौद्धिक प्रेरणा प्रदान करने वाले सवितृ देव सबका कल्याण करते हैं, उनकी दृष्टि में समस्त मनुष्य समान है–

विश्वस्य हि श्रुष्टये देव ऊर्ध्वः प्र बाहवा पृथुपाणिः सिसर्ति।।[11]

ऋषि अन्यत्र समता की भावना से कहता है कि "हे अग्ने! तुम सबको समान देखने वाले सर्वव्यापी तथा स्वामी हो। युद्ध के अवसर पर हम तुम्हें आहूत करते हैं।"[12] प्रस्तुत विचार अधिक स्पष्टता से एक मन्त्र में इस प्रकार प्रकट हुआ है–"इस भाँति चमकती हुई यह महान् उषा देवताओं तथा मनुष्यों में अन्तर रखे बिना सुखकारी दर्शन हेतु छोटे अथवा बड़े किसी से भी नहीं हटती।"[13] यहाँ उषा की विशालतम दृष्टि का आभास होता है। उसकी दृष्टि में देवता तथा मनुष्य समान हैं। वह भेदभाव नहीं करती। यदि देवता तथा मनुष्य समान हैं, तो फिर मनुष्य और मनुष्य असमान कैसे हुए? वैदिक ऋषि केवल व्यक्तिगत सुख–शान्ति के लिए प्रयत्नशील नहीं रहता, अपितु वह समस्त समाज के लिए अभ्युदय की प्रार्थना करते हुए कहता है–'हमारे ब्राह्मणों को प्रकाशित करो, क्षत्रियों को प्रकाशित करो, वैश्यों को प्रकाशित करो, शूद्रों को प्रकाशित करो तथा प्रकाश से मुझे प्रकाशित करो।[14]

वैदिक विचारधारा साम्य दृष्टिकोण वाली है। ऋषि समस्त संसार को एक नीड़ मानते हुए सन्देश देता है कि साथ चलो, साथ बोलो, सबका मन एक–सा हो। यह स्पष्ट है कि जब सबका मन एक–सा होगा, तब कौन किससे घृणा कर सकता है?

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवाभागं यथा पूर्वे संजानानामुपासते।।[15]

वेदों में ईश्वर से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब में समान रुप से शोभा अथवा दीप्ति का आधान करने की प्रार्थना की गई है जिससे सबका समान कल्याण हो तथा कोई भी अपमानित न हो–

रुचं नो धेहि ब्रह्मणेषु रुचं राजसुनस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेशु मयि धेहि रुचा रुचम्।। (यजु.18/48)

समाज तथा राष्ट्र की उन्नति तभी सम्भव है जब सबकी समान समृद्धि हो। ये सभी समाज रुपी पुरुष के अंग हैं। उनके स्वस्थ रहने पर ही सभी कार्य सुविधापूर्वक सम्पन्न हो सकते हैं। इसीलिए वेदों में समान गति इत्यादि की प्रेरणा दी गई है–

'समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति' (ऋग्.10/191/4)

सबके मन राष्ट्रोन्नति के समान लक्ष्य को धारण करके एक सा चिन्तन करें, जिससे पारस्परिक सहयोग बढे तथा हमारा राष्ट्र समृद्धि को प्राप्त हो। राष्ट्र में अपने–अपने कार्य को उत्साह से करते हुए हम राष्ट्रोन्नति के लिए जागरुक रहें तथा कर्तव्यपथ पर अग्रसर हों–

'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः' (यजु.9/25)

अनुच्छेद 13 में विचरण की स्वतन्त्रता उवं 15 में राष्ट्रीयता के अधिकार का उल्लेख है। ऋग्वेद में भारत को एक जैव इकाई के रूप में कल्पित करते हुए कहा गया है–जिसकी महिमा से ये बर्फ से ढ़की चोटियाँ, जिसकी महिमा से नदियों से युक्त समुद्र हैं ये दिशाएँ तथा उपदिशाएँ जिसकी भुजाएँ हैं। (उसको छोड़कर) किस देवता का हम हवि से पूजन करें?[16]

यहाँ ऋषि बर्फ से ढ़की चोटियों के लिए 'इमे' अर्थात् 'ये' शब्द का प्रयोग करता है, जिससे प्रतीत होता है कि पर्वत उसके समक्ष ही रहा होगा, अन्यथा वह 'इमे' के स्थान पर 'ते' अर्थात् 'वे' शब्द का प्रयोग करता, यहाँ हिमाच्छन्न पर्वत की बात कही गयी है। यह सर्वविदित है कि प्रत्येक पर्वत के शिखर हिम से आच्छादित नहीं होते हैं। इस देश के उत्तर में कश्मीर व हिमांचल तथा पूर्व में नागालैण्ड व सिक्किम आदि पर्वतों पर ही हिम की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार नदी तथा समुद्र का संगम भी पूर्व में बंगाल की खाड़ी, पश्चिम में अरबसागर तथा दक्षिण में हिन्द महासागर में ही होता है, अन्यत्र नहीं। ऋषि का सहस्रों वर्ष पूर्व इतने विशाल देश की भौगोलिक स्थिति का यथावत् वर्णन करना इस बात का द्योतक है कि उस समय भारत को एक राष्ट्र के रूप में मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। आज उत्तर–दक्षिण तथा पूर्व–पश्चिम का विवाद भयानक मुख खोले देश के विस्तार को भयानक करता जा रहा है, परन्तु प्रस्तुत मन्त्र में दिशाओं को देश की भुजाओं के रूप में मान्यता प्रदान करते हुए समस्त देश को उसमें आवृत बताया गया है। ऋषि का देश के भौगोलिक प्रवेश का एक ही दृष्टि में मापन उसकी दृष्टि की व्यापकता को सिद्ध करता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो अखिल भारत वर्ष एकत्व में समर्पित है। अथर्ववेद का ऋषि समूचे विश्व में सुखपूर्वक विचरण का अधिकार वैदिककाल के मानव को प्राप्त था।[17]

संयुक्त राष्ट्रसंघ के अनुच्छेद 26 में शिक्षा की सर्वसुलभता पर बल दिया गया है। इतिहासकार इस बात से सहमत है कि भारतवर्ष में अशोक के समय से लेखन–कला का प्रारम्भ हुआ। वेद को श्रुति कहा जाता है, क्योंकि उसे कण्ठस्थ करके सुरक्षित रखा गया तथा उच्चारण विधि से उसके पठन–पाठन का कार्य सम्पन्न होता था। परन्तु ऋग्वेद के एक मन्त्र में ऋषि कहता है–

आरिख किंरा कृणु पणीनां हृदयां कवे।
अथेमस्मभ्यं रन्धय।।[18]

अर्थात् हे कवि स्वरूप देवता पूषन् पणियों के हृदय में तुम लिखो, उनके हृदय की कठोरता को कम करके हमारे अधीन करो। 'रलयोरभेदः' के नियमानुसार 'रिख' वस्तुतः 'लिख्' है, जिसका शाब्दिक अर्थ है–लिखो। इसके मूल में 'लिख्' धातु ही है।

इस प्रकार पूर्व समस्त मान्यताओं को ध्वस्त करते हुए प्रस्तुत मन्त्र इस बात का प्रमाण है कि विश्व के प्राचीनतम् ग्रन्थ ऋग्वैदिक काल में लेखन–कला विद्यमान थी। वेदों के अनुसार विद्या प्रचार से राष्ट्र में वसु, रुद्र और आदित्य विद्वान् पैदा होते हैं। विद्या प्रचार राष्ट्र को दीनतारहित बना देता है। वह पराधीन नहीं हो सकता। उसमें किसी भी प्रकार की क्षीणता नहीं आ सकती। विद्या के कारण राष्ट्र के लोग दिव्यगुणों से युक्त होकर नाना प्रकार के व्यवहार करने वाले बन जाते हैं–

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।

प्र नु वोचं विकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट।।
वर्चोविदं वाचमुदीयन्तीं विश्वाभिर्धीभिरुपतिश्ठमानाम्।
देवीं देवेभ्यः पर्येयुषीं गामा मावृक्त मर्त्यो दमचेताः।। (ऋग्. 8/10/15–16)

वैदिक काल में पुरुषों के समान स्त्रियों भी समान रुप से शिक्षा प्राप्त करती थी। तत्कालीन युग में छात्रों की भाँति छात्राओं का भी उपनयन संस्कार सम्पन्न होता था। यह संस्कार दोनों के लिए समानरुपेण अपरिहार्य था क्योंकि इस संस्कार के पश्चात् ही वेदोध्ययन सम्भव होता था। उस काल में स्त्रियों वेदाध्ययन करती थी तथा मन्त्रों की रचयिता भी थी। स्त्री शिक्षा अपनी उच्चतम स्थिति में थी। स्त्रियों ज्ञान के क्षेत्र में अग्रणी थी। साक्षात्कृतधर्मा ऋषिकाओं ने अनेक सूक्तों का साक्षात्कार कर वैदिक ऋचाओं के प्रणयन में अभूतपूर्व योगदान दिया।

वैदिक शिक्षा पद्धति में नैतिकता, गुरुभक्ति, मातृ–पितृभक्ति, श्रम की महत्ता, गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति, धर्मानुसार जीवन–यापन की शिक्षा, स्वस्थ राजनीति, विशिष्ट ज्ञान आदि पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। अपने माता–पिता, अपने देश के प्रति निष्ठा, चरित्र–हीनता, अनुशासनहीनता आदि दुर्गुणों से मुक्ति आदि विषयों का समावेश दिखाई देता हैं ।

शिक्षा के प्रचार–प्रसार का अनुमान लोपामुद्रा, घोषा, विश्ववारा, मैत्रेयी, गार्गी, अपाला जैसी विदुषियों से ही लगाया जा सकता है।

वेद ने–

"अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वादिति परि" [19]

के द्वारा तथा

"असच्च सच्च परमे व्योमन्दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे।
अग्निर्हि नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः।"[20]

के द्वारा नर–नारी में समानता की उद्घोषणा विश्व में सर्वप्रथम की है। आगे चलकर शैव मत का अर्धनारीश्वर का सिद्धान्त इन्हीं मन्त्रों का विशदीकरण है। तत्कालीन समाज में पुरूषों के साथ नारियों के लिए भी शिक्षा के समान अवसर उपलब्ध थे। यह बात उक्त विदुषियों के नामोल्लेख से ज्ञात होती है। उस समय शिक्षा के अवसर समान रूपेण सबको प्राप्त होते थे। परन्तु परिणाम में भेद की सम्भावना विद्यमान थी, शिक्षा की प्राप्ति में नही।[21]

वैदिक साहित्य में केवल जीवित मनुष्यों के अधिकारों का ही उल्लेख नहीं मिलता, अपितु पशुओं, वनस्पति जगत् तथा मृत् मनुष्यों के भी अधिकारों का विवरण है जो कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी भी अनुच्छेद में प्राप्त नहीं होता है।

तैत्तिरीयारण्यक में पच्चमहायज्ञों का उल्लेख है, जिसमें पितृयज्ञ एवं भूतयज्ञ महत्वपूर्ण है। जो अब जीवित नहीं रहे उन पितरों के प्रति भी मनुष्य का कुछ कर्त्तव्य है तथा पशु–पक्षियों के प्रति भी इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि पितरों को भी तर्पण प्राप्ति का अधिकार है। वैदिक साहित्य से लेकर महाभारत तक मनुष्यों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का एक विस्तृत लेखा–जोखा प्राप्त होता है। जिसके समक्ष संयुक्त राष्ट्रसंघ का मानवाधिकार अभी शिशुवत् ही है। वैदिक अधिकार ऋत पर आधारित है तथा उसकी मान्यता है कि मनुष्य को सर्वप्रथम उचित अर्थों में मनुष्य बनना चाहिए। तदुपरान्त अपने अधिकारों में नैतिकता का समावेश करके उनका पालन करना चाहिए। उसे अपने से अतिरिक्त सबका सम्मान करना चाहिए चाहे पशु हो चाहे वनस्पति सबके अधिकारों की रक्षा करना भी उसका कर्त्तव्य है। अतः अधिकार के साथ ही कर्त्तव्य का भी वर्णन वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है। वैदिक ऋषि का मानना है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' तब तक सार्थक नहीं माना जा सकता है जब तक इसके साथ ही 'तत्त्वमसि' भी नहीं कहा जाए, अन्यथा यह अहंकार का जनक भी हो सकता है–

Scanned with OKEN Scanner

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।(शुक्ल यजुर्वेद 40/6)

जब तक हमारे व्यक्तित्व में अन्य व्यक्तियों को समाविष्ट करने की क्षमता नहीं होगी, तब तक हम अपने अन्तस्तम से संयुक्त नहीं होंगे। जब तक एक ही परमात्मा का सबमें वास नहीं मानेंगे, तब तक न तो वास्तविक नैतिकता उत्पन्न हो सकती है और न ही शान्ति। जीवन को यदि जड़ से जोड़ने का नाम यदि संसार है तो जीवन को जीवन से जोड़ने अर्थात् चेतना को आत्मा से जोड़कर आगे बढ़ाने का नाम धर्म है। धर्म की व्यापक परिधि में अधिकार एवं कर्त्तव्य दोनों ही आ जाते हैं। महाभारत ने सहस्रों वर्ष पूर्व उद्घोषणा कर दी थी कि इस धरती पर मनुष्य से बढ़कर श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है–

'न मानवाद् श्रेष्ठतरमस्ति किंचिद्।'

सन्दर्भ सूची–

1.यजुर्वेद 36/24
2.यजुर्वेद 40/2
3.ऋग्वेद 1/32/1
4.ऋग्वेद 10/72/1
5.ऋग्वेद 3/61/2
6.ऋग्वेद 2/27/6
7.ऋग्वेद 2/38/7
8.ऋग्वेद 3/61/4
9.ऋग्वेद 10/34/13
10.ऋग्वेद 2/38/6
11.ऋग्वेद 2/38/2
12.ऋग्वेद 8/43/21
13.ऋग्वेद 1/124/6
14.यजुर्वेद 18/48
15.ऋग्वेद 10/191/2
16.ऋग्वेद 10/121/4
17.ऋग्वेद 12/1/31
18.ऋग्वेद 6/53/7
19.ऋग्वेद 10/72/4
20.ऋग्वेद 10/5/7
21.ऋग्वेद 10/71/7

Scanned with OKEN Scanner

7469465473

RNI-UTTHIN/2013/51284

ISSN-0975-8739

हिन्दी अर्द्धवार्षिक

जयराम संदेश
Jairam Sandesh

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्वीकृत विशेषज्ञ समिति द्वारा मूल्यांकित शोध-पत्रिका

A Peer Reviewed, Refereed Research Journal

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम विशेषांक

जून 2023 वर्ष 11 अंक 01

₹ 50/-

धर्म-दर्शन-अध्यात्म एवं सांस्कृतिक संदर्भ पर आधृत

हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

श्रीराम का जीवनदर्शन : वाल्मीकि रामायण के आलोक में

डॉ0 लज्जा
एसोसिएट प्रोफेसर-संस्कृत
कुमाऊँ विश्वविद्यालय,
(उत्त

दर्शन शब्द की निष्पत्ति दृश् (प्रेक्षणात्मक) धातु से ल्युट् प्रत्यय लगाने पर होती है। जिसके द्वारा देखा जाए उसे दर्शन कहते हैं- 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्'। आध्यात्मिक क्षेत्र में 'दर्शन' का तात्पर्य न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त आदि ग्रन्थों से है। वेदान्त आदि दर्शनों की सहायता से आत्मा-अनात्मा, नित्य-अनित्य वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान अथवा दर्शन होता है। वाल्मीकि रामायण में भी विविध दार्शनिक मतों का विवेचन विस्तार से प्राप्त होता है। संसार में जितने भी प्राणी जीवन धारण करते हैं वे पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर नहीं होते। प्राणी का जीवन तत्कालीन समाज, राजनीति, संस्कृति, धर्म तथा दर्शन में उपलब्ध तत्त्वों से प्रभावित होता है। जीवन को प्रभावित करने वाले समाज राजनीति आदि इन तत्त्वों के विषय में व्यक्ति की ऐसी धारणा को ही जीवन-दर्शन कहा जाता है। कोई व्यक्ति केस प्रकार के जीवन की अपेक्षा करता है, यही उसका ीवन-दर्शन है।

रामायण भारतीय इतिहास के उस महत्त्वपूर्ण युग ा प्रतिनिधित्व करता है जब पौराणिक हिन्दू धर्म की धारशिला रखी गई। समय एवं परिस्थितियों के अनुरूप के स्वरूप, मूल्यों तथा आदर्शों को नवीन आयाम दिया ा। रामायण का भारतीय संस्कृति में अद्वितीय स्थान वेदित है, रामायणकालीन समाज के परिप्रेक्ष्य में राम, ण, भरत, विभीषण, सुग्रीव आदि कतिपय व्यक्तियों का मात्र स्वान्तःसुखाय नहीं था अपितु सर्वजनहिताय था। 'मनुस्मृति' में धर्म के दस लक्षण[1] बताये गये हैं तथा देश' में धर्म के आठ मार्ग[2] बतलाये गये हैं। करामायण' में धर्म का प्रतिस्थापन उक्त रूप में पहले से ही है। वाल्मीकि ने श्रीराम के जीवन दर्शन के आध तत्त्वों को सत्य, दान, परोपकार, मानवता, मैत्री, आदि विभिन्न प्रकारों से व्यक्त किया है-

सत्य- कवि वाल्मीकि ने अपने काव्य में राम के जीव सत्य के मूर्तरूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। पराक्रमी राम केवल देते हैं लेते नहीं, वे सदा सत्य बोल अपने प्राणों की रक्षा के लिए भी कभी झूठ नहीं बोल स

दद्यान्न प्रतिगृहीयात् सत्यं ब्रूयान्न चानृतम्।
अपि जीवितहेतोर्हि रामः सत्यपराक्रमः॥[3]

सत्यभाषण में तो श्रीराम का कुल प्रसिद्ध ही है-

'रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्राण जाय पर वचन न जाई॥'

इस वंश में उत्पन्न श्रीराम तो दो बार भी न बोलते, मुँह से एक बार ही जो कह दिया, उसे ही पूर्ण क हैं। तत्कालीन समाज में सत्य का पालन करना सबसे प्रि माना जाता था। किसी व्यक्ति को पूर्ण रूप से अपनी बा का विश्वास दिलाने हेतु सत्य की सौगन्ध भी ली जाती थी अरण्यकाण्ड में जब सीता राम से दण्डकारण्य में हिंसक पशुओं को मारने से रोकती हैं तो राम कहते हैं कि मुनिय के समक्ष हिंसक जन्तुओं से उनकी रक्षा करने की प्रतिज्ञ करके अब मैं जीते जी अपनी उस प्रतिज्ञा को मिथ्या नहीं कर सकूँगा, क्योंकि सत्य का पालन करना मुझे सदा ही प्रिय है।[4]

श्रीराम के जीवन का आदर्श ही सत्य था। इसके अतिरिक्त वे दूसरे से भी यही कामना करते थे कि वह सत्य का पालन करने में अपने प्राणों तक को न्यौछावर करने का साहस रखे। किष्किन्धाकाण्ड में सुग्रीव को भी राम यह

सन्देश भेजते हैं कि यदि तुम सत्य से विचलित हुए तो मैं तुम्हें बन्धु-बान्धवों सहित काल के गर्त में डाल दूँगा-

एक एव रणे वाली शरेण निहतो मया।
त्वां तु सत्यादतिक्रान्तं हनिष्यामि सबान्धवम्॥[5]

युद्धकाण्ड में लक्ष्मण के अचेत हो जाने पर भी जब अपने प्राणों को त्यागने की सोचते हैं तो वे विभीषण से कहते हैं कि मैं अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार तुम्हें राक्षसों का राजा बनाये बिना स्वयं मृत्यु को प्राप्त कर रहा हूँ। अतः मेरा वह असत्य प्रलाप मुझे सदा जलाता रहेगा, इसमें संशय नहीं है-

तत्तु मिथ्या प्रलप्तं मां प्रधक्ष्यति न संशयः।
यन्मया न कृतो राजा राक्षसानां विभीषणः॥
(युद्धकाण्ड-49/22)

भरत से भी श्रीराम सत्य की दुहाई देते हुए कहते हैं कि मैं इस निर्जन वन में पिताजी के सत्य हेतु स्थित रहूँगा तथा तुम भी उनकी आज्ञानुसार शीघ्र ही अपना राज्याभिषेक कराकर पिता को सत्यवादी बनाओ, यही तुम्हारे लिए उचित है। (अयोध्याकाण्ड-107/8-9) राम की यह प्रतिज्ञा है कि यथाशक्ति उपयुक्त संसाधनों से मैं अपने जनक दशरथ की आज्ञा को मिथ्या नहीं होने दूँगा-

स हि राजा दशरथः पिता जनयिता मम।
आज्ञापयन् मां यत्तस्य न तन्मिथ्या भविष्यति॥
(अयोध्याकाण्ड-111/11)

राम की सत्य के प्रति निष्ठा पदे-पदे दृग्गोचर होती है। वे तीनों लोकों के प्राणियों के मन में विश्वास दिलाने हेतु एकमात्र सत्य का आश्रय लेकर अग्नि में प्रवेश करती हुई विदेह कुमारी सीता को भी नहीं रोकते-

प्रत्ययार्थं तु लोकानां त्रयाणां सत्यसंश्रयः।
उपेक्षे चापि वैदेहीं प्रविशन्तीं हुताशनम्॥[6]

महर्षि वाल्मिकि तो सत्य पालन में 'सत्ये धर्म इवापरः' कहकर उनको द्वितीय धर्मराज के समान मानते हैं। उक्त आधार पर यह सिद्ध होता है कि श्रीराम के प्रति दृढ़प्रतिज्ञता वर्तमान समाज को सत्य की ओर अग्रसर होने का उपदेश देती है।

धर्म- रामायणकालीन समाज की मान्यता थी कि धर्म, अर्थ तथा काम इन तीनों पुरुषार्थों में धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। अतः विशेष अवसरों पर अर्थ तथा काम की उपेक्षा करके भी धर्म का ही सेवन करना चाहिए। धर्म की महत्ता को प्रत्यक्ष रूप से देखकर अथवा तद्वद्वर्ग से सुनकर भी व्यक्ति नहीं समझता है अथवा समझकर भी स्वीकार नहीं करता, उसके द्वारा शास्त्रों का अध्ययन करना व्यर्थ है। धर्मविरुद्ध कार्यों में आसक्त होना लांछनीय नहीं है क्योंकि धर्म से राज्य, धन तथा सुख की प्राप्ति होती है, अतः सुख के लिए धर्म का आचरण करना चाहिए-

धर्माद् राज्यं धनं सौख्यमधर्माद् दुःखमेव च।
तस्माद् धर्मं सुखार्थाय कुर्याद् पापं विसर्जयेत॥[7]

राम ने अपने जीवन में धर्म को सर्वाङ्गीण रूप से अपनाया, माता-पिता तथा गुरुजनों की आज्ञा का पालन करना ही राम का प्रमुख धर्म है तथा अपने अनुजों, पारिवारिक सदस्यों को भी पिता की आज्ञा का पालन करने हेतु प्रेरित करते हैं-

एष धर्मश्च सुश्रोणि पितुर्मातुश्च वश्यता।
आज्ञां चाहं व्यतिक्रम्य नाहं जीवितुमुत्सहे॥[8]

श्रीराम धर्मावतार हैं। उनके पावन चरित्र से शिक्षा मिलती है कि मनुष्य को सदैव धर्माचरण में रत रहना चाहिए, क्योंकि धर्म से अर्थ प्राप्त होता है, धर्म से सुख का उदय होता है तथा धर्म से ही मनुष्य सर्वस्व प्राप्त कर लेता है। इस जगत् में धर्म ही सार है-

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात् प्रभवते सुखम्।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्॥[9]

उक्त आधार पर यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन समाज में धर्म, अर्थ तथा काम में प्रत्येक पुरुषार्थ का महत्त्व होते हुए भी धर्म को प्रधान माना जाता था, क्योंकि समाज में यह मान्यता थी कि धर्माचरण द्वारा मनुष्य अर्थ तथा काम की प्राप्ति कर सकता है, इस हेतु पृथक् प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

दया- रामायण में वाल्मीकि ने श्रीराम के दयालु रूप का चित्रण स्थान-स्थान पर किया है। रामायण के कतिपय

प्रसंगों में तत्कालीन समाज में एक-दूसरे के प्रति दयाभाव के सम्बन्धों का विवेचन प्राप्त होता है। उस समय समाज में एक-दूसरे के प्रति दया करना महान् धर्म माना जाता था। (सुन्दरकाण्ड-5/38-39)

वाल्मीकि ने राम के स्वभाव को दयाभाव से परिपूर्ण करने की चेष्टा की है। उनके विचार से श्रीराम सम्पूर्ण प्राणी मात्र के अभ्युदय की इच्छा करने वाले सभी जीवों पर दया भाव रखते हैं-

वृद्धिकामो हि लोकस्य सर्वभूतानुकम्पकः।
मत्तः प्रियतरो लोके पर्जन्य इव वृष्टिमान्॥[10]

राम यद्यपि दयाभाव से परिपूर्ण हैं तथापि अन्यायी तथा पापी व्यक्ति के प्रति दयाभाव नहीं रखते क्योंकि उनके समाज में प्रमुखता धर्मपालनता की ही थी। बालकाण्ड में विश्वामित्र राम से ताड़का-वध प्रसंग में कहते हैं- कि हे राजन्! तुम स्त्री हत्या का विचार करके इस ताड़का के प्रति दया मत दिखाना, एक राजपुत्र को चारों वर्णों के हित के लिए स्त्री-हत्या भी करनी पड़े तो उसे मुँह नहीं मोड़ना चाहिए। (बालकाण्ड-25/7)

श्रीराम का मन्तव्य था कि श्रेष्ठ पुरुष को चाहिए कि कोई पापी हो अथवा पुण्यात्मा या वे वध के योग्य अपराध करने वाले ही क्यों न हों, उन सब पर दया करनी चाहिए, क्योंकि ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जिसके द्वारा कभी अपराध न किया गया हो-

पापानां वाशुभानां वा वधार्हाणामथापि वा।
कार्यं कारूण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति॥[11]

अनुशासन- प्रत्येक व्यक्ति तथा समाज की उन्नति का मुख्य कारण अनुशासन ही है। अनुशासनहीन व्यक्ति कभी भी सफलता को प्राप्त नहीं कर सकता है, रामायणकालीन समाज में भी अनुशासित जीवन का बहुत अधिक महत्त्व था। श्रीराम स्वयं कठोर अनुशासक थे। लंकाभियान करते समय उन्होंने वानरों को आज्ञा दी थी कि रास्तों में कोई किसी भी प्रकार का उपद्रव न करे क्योंकि उन्हें यह भय था कि सैनिकगण नागरिकों को पीड़ित कर सकते हैं। राम के उक्त आदेश को जानकर समुद्र के जलप्रवाह की भाँति अपार एवं भयंकर दिखाई देने वाली वह विशाल वानर सेना [illegible] सी होकर नगरों के समीपवर्ती स्थानों तथा जनपदों को [illegible] से ही छोड़ती चली जा रही थी-

रामस्य शासनं ज्ञात्वा भीमकोपस्य भीतवत्।
वर्जयन् नागराभ्याशांस्तथा जनपदानपि॥[12]

मैत्री- रामायण में वाल्मिकि ने श्रीरामचरित के माध्यम से तत्कालीन समाज में व्याप्त आपसी मित्रता पर [illegible] प्रसंगों द्वारा प्रकाश डाला है। राम तथा गुह (3/84/6), [illegible] और विभीषण (6/50/19-20), राम तथा सुग्रीव (4/15/17-[illegible] की परस्पर प्रगाढ़ मित्रता का उल्लेख किया है, जिस माध्यम से उस समय के मैत्री धर्म का पूर्णरूपेण परिचय प्राप्त हो जाता है।

राम के चरित से ज्ञात होता है कि उस काल [illegible] मित्र तथा शत्रु की पहचान उपकार तथा अपकार पर निर्भर थी। किष्किन्धाकाण्ड में श्रीराम सुग्रीव से कहते हैं कि तुम्हारे साथ मित्रता प्रगाढ़ को करने के लिए मैं वालि का [illegible] करूँगा। (किष्किन्धा.-8/21)

रामचरित के माध्यम से कवि ने स्थान-स्थान पर मित्रता सम्पन्न करने हेतु अत्यन्त सावधानी तथा सतर्कता का आग्रह करने के साथ ही साथ दुष्ट, अनार्य, कृतघ्न आदि व्यक्तियों से मित्रता न करने का उपदेश दिया है-

मित्रं ह्यर्थगुणश्रेष्ठं सत्यधर्मपरायणम्।
तद्द्वयं तु परित्यक्तं न तु धर्मे व्यवस्थितम्॥[13]

आततायियों का दमन

यह स्वाभाविक है कि यदि एक की दूसरे से रक्षा की जायेगी तो जिससे रक्षा की गई है उसका दमन अवश्य होगा, रामायणकालीन समाज में भी शरणागत की रक्षा हेतु दुष्ट आततायियों का नाश करना साधु पुरुषों का कर्त्तव्य था जिसका चित्रण वाल्मीकि ने राम के द्वारा किये गये कार्यों के माध्यम से किया।

अरण्यकाण्ड में जब सीता राम से दण्डकारण्यवासी निरपराध राक्षसों का वध न करने हेतु औचित्य प्रदर्शित करती हुई कहती हैं कि आपको विना वैर के ही दण्डकारण्य

में विचरण करने वाले राक्षसों के वध का विचार नहीं करना चाहिए तो प्रत्युत्तर में राम कहते हैं कि ऋषियों की आततायियों से रक्षा करना ही मेरा परम कर्त्तव्य है, यद्यपि मुझे हानि नहीं पहुँचा रहे हैं किन्तु ऋषि-मुनियों के यज्ञ में अवश्य ही विघ्न बाधाएँ उत्पन्न करते हैं, अतः उनकी रक्षा हेतु समस्त आततायियों का दमन करना ही मेरा परम धर्म है। (अरण्यकाण्ड-10/19)

राम ने तपस्वियों के यज्ञ में विघ्न उत्पन्न करने वाले ताड़का, मारीच, सुबाहु, खर तथा लंकावासी राक्षसों सहित रावण का वध किया था। इनको नष्ट करने का एकमात्र प्रयोजन प्राणियों का हित करना तथा घोर पापकर्म में रत आततायियों का दमन करना ही था-

पापमाचरतां घोरं लोकस्याप्रियमिच्छताम्।
अहमासादितो रात्रा प्राणान् हन्तुं निशाचर॥[14]

शरणागत की रक्षा - वाल्मीकि के राम शरणागत की रक्षा करना अपना धर्म तथा कर्त्तव्य समझते हैं। दण्डकारण्य में जब श्रीराम से वानप्रस्थ मुनिजन शरण की कामना करते हैं, तो शरणागत की रक्षा करने वाले श्रीराम अपने कष्टों की चिन्ता न करते हुए उनकी राक्षसों से रक्षा करने का वचन देते हैं तथा अपने उस वचन का पूर्ण निर्वाह भी करते हैं। (अरण्यकाण्ड-6/23)

वस्तुतः राम ने अपने जीवन का एक नियम यह भी बनाया था कि जो कोई भी व्यक्ति एक बार शरण में आकर तथा 'मैं तुम्हारा हूँ' इस प्रकार का भाव रखकर मुझसे रक्षा की प्रार्थना करेगा, उसे मैं समस्त प्राणियों से अभय प्रदान करूँगा-

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥[15]

आज्ञाकारिता- प्रायः प्राचीनकाल से ही यह देखा जाता है कि मनुष्य अपने गुण तथा आचरण के द्वारा ही समाज में श्रद्धा का पात्र बनने में सफल होता है। दया दाक्षिण्यादि गुणों से युक्त व्यक्ति समाज में उत्कृष्टता को प्राप्त करता है तथा तुच्छ, निर्दयी, कामी और स्वार्थ आदि दुर्गुणों से युक्त मनुष्य को प्रत्येक व्यक्ति घृणा से देखता है। समाज सज्जन तथा धार्मिक कहकर जिन पर श्रद्धा रखता है, उनके आचरण को ही सदाचार की संज्ञा दी जाती है।

बालकाण्ड में जब विश्वामित्र राम को ताड़का वध करने हेतु आज्ञा देते हैं तो राम का उनसे यही कथन होता है कि-भगवन्! अयोध्या में मेरे पिता दशरथ ने अन्य गुरुजनों के मध्य मुझे यह उपदेश दिया था कि तुम पिता के कहने से पिता के वचनों का गौरव रखने के लिए कुशिकनन्दन विश्वामित्र की आज्ञा का निःशङ्क होकर पालन करना, कभी भी उनकी बात की अवहेलना न करना। अतः मैं पिताजी के उस उपदेश को सुनकर आप ब्रह्मचारी महात्मा की आज्ञा से ताड़का वध सम्बन्धी कार्य को उत्तम मानकर करूँगा। (बालकाण्ड-26/2-4)

वनगमन से पूर्व भी राम अपनी आज्ञाकारिता से परिपूर्ण गुणों का उत्कृष्ट परिचय कैकेयी के समक्ष प्रस्तुत करते हैं-

अनुक्तोऽप्यत्र भवता भवत्या वचनादहम्।
वने वत्स्यामि विजने वर्णाणीह चतुर्दशः॥
न न्यूनं मयि कैकेयि किंचिदाशंससे गुणान्।
यद् राजानमवोचस्त्वं ममेश्वरतरा सती॥[16]

चित्रकूट में राम से राज्यग्रहण करने का अनुरोध व्यक्त करने वाले भरत को भी राम यही शिक्षा देते हैं कि परलोक विजय पाने की इच्छा रखने वाले मनुष्य को धार्मिक, क्रूरतारहित तथा गुरुजनों का आज्ञापालक होना चाहिए। (अयोध्याकाण्ड-105/44)

कैकेयी की निन्दा करने पर लक्ष्मण को समझाते हुए श्रीराम कहते हैं- **"तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन"** **(अरण्यकाण्ड-29/10)**

त्याग-रामायण में ऐसे विविध प्रसंग दृग्गोचर होते हैं जिनमें श्रीराम ने अपने मान-सम्मान, सत्य, धर्म अथवा भक्ति के कारण सम्पूर्ण सुखों का त्याग कर संकटमय जीवन व्यतीत करना उचित समझा। श्रीराम अपने पिता को सत्यप्रतिज्ञ बनाने हेतु अपने सम्पूर्ण राजसी वैभव का त्याग करते हुए दशरथ से कहते हैं- "राष्ट्र तथा यहाँ के मनुष्यों सहित धन-धान्य से सम्पन्न यह सारी पृथ्वी मैने त्याग दी है। आप इसे भरत को दे दीजिए। मैं आपके आदेश का पालन करता

हुआ दीर्घकाल तक वन में निवास करने के लिए यहाँ से यात्रा कर रहा हूँ-

इयं सराष्ट्रा सजना धनधान्यसमाकुला।
मया विसृष्टा वसुधाभरताय प्रदीयताम्॥

(अयोध्याकाण्ड-34/41)

रावणवध तथा अयोध्या का राजा बनने के उपरान्त भी राम सीताविषयक लोकापवाद से बचने के लिए उनका त्याग करते हुए लक्ष्मण से कहते हैं कि मैं लोकनिन्दा के भय से अपने प्राणों को तथा तुम सबको भी त्याग सकता हूँ, फिर सीता का त्याग विशेष बात नहीं है-

अप्यहं जीवितं जह्यां युष्मान् वा पुरुषर्षभाः।
अपवादभयाद् भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम्॥[17]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि श्रीराम का जीवन-दर्शन तत्कालीन समाज में तो अनुकरणीय था ही, वर्तमान में भी वह दिशाहीन व्यक्ति को उपयुक्त राह दिखाने वाला है तथा स्वकर्त्तव्यपालन की प्रेरणा देता है। वर्तमान समय में आवश्यकता इस बात की है कि भगवान् श्रीराम के जीवनदर्शन को दिग्भ्रमित समाज के सम्मुख पुनः नवीनता के साथ प्रस्तुत किया जाय, जिससे समाज का कल्याण हो तथा वह श्रीराम के वास्तविक चरित्र को समझने में सक्षम हो सके।●

सन्दर्भ सूची-

1. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
   धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
2. इज्याध्ययनदानादि तपः सत्यं धृतिः क्षमा।
   अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥
3. वाल्मीकिरामायण-5/33/25
4. वाल्मीकिरामायण-3/10/17-18
5. वाल्मीकिरामायण-4/30/82
6. वाल्मीकिरामायण-6/118/17
7. वाल्मीकिरामायण-7/15/23
8. वाल्मीकिरामायण, अयोध्याकाण्ड-30/32
9. वाल्मीकिरामायण, अरण्यकाण्ड-9/30
10. वाल्मीकिरामायण, अयोध्याकाण्ड 1/38
11. वाल्मीकिरामायण-6/113/45
12. वाल्मीकिरामायण-6/102/22
13. वाल्मीकिरामायण, किष्किन्धाकाण्ड-38/48
14. वाल्मीकिरामायण, अरण्यकाण्ड-29/10
15. वाल्मीकिरामायण, युद्धकाण्ड-18/33
16. वाल्मीकिरामायण, अयोध्याकाण्ड-19/23-24
17. वाल्मीकिरामायण, उत्तरकाण्ड-45/14

वेदाञ्जलि, International Peer Reviewed Refereed Journal of Multidisciplinary Research
वर्ष-१०, अंक-१९, भाग-३, जनवरी-जून, २०२३ | ISSN : 2349-364X | Impact Factor : 7.109

'श्रीगुरुमहाराजचरितम्' में प्रकृति का चित्रण

डॉ० लज्जा पन्त (भट्ट)* व भावना काण्डपाल**

मनुष्य तथा प्रकृति का सम्बन्ध उतना ही पुराना है जितना कि सृष्टि के उद्भव और विकास का। सृष्टि के साथ साथ मानव के सहज सम्बन्धों की व्याख्या साहित्य का विषय बन जाती है। प्रत्येक काल में कवियों के हृदय में प्रकृति के प्रति आकर्षण स्पष्टत: दृगोचर होता रहा है। सहृदय सामाजिक होने के कारण कवि प्रकृति वर्णन करता ही है, फिर किसी भी काव्य में प्रकृति वर्णन एक अनिवार्य तत्व है। इसी क्रम में हमारे आलोच्य महाकवि डॉ० हरिनारायण दीक्षित ने भी अपने महाकाव्य 'श्रीगुरुमहाराजचरितम्' में स्थान-स्थान पर प्रकृति के चित्र उकेरे हैं। तीस सर्गों वाले इस महाकाव्य का प्रकाशन 'ईस्टर्न बुक लिंकर्स, नई दिल्ली' द्वारा सन् 2013 ई. में किया गया। इस महाकाव्य में कवि ने अपने गुरु के जीवन-चरित्र को प्रस्तुत किया है, जिसमें स्थान-स्थान पर कवि का प्रकृति-प्रेम देखने को मिलता है।

महाकवि ने जमुना नदी के तटवर्ती जंगलों की शोभा मथुरा से की है, जहाँ विभिन्न प्रकार के वृक्ष मन को आकर्षित करते हैं-

कलिन्दजा-कूलवनस्य शोभा, तत्रापि रम्या मथुरापुरीवत्।
जम्बू-कदम्बाम्र-पलाशवृक्षास्, सचेतसां तत्र मनो हरन्ति।।[1]

प्राकृतिक रूप से उत्पन्न वृक्ष यथा-नीम, बबूल, बेल आदि के वृक्ष स्वयं ही उत्पन्न हो जाते हैं। इन्हें लगाने की आवश्यकता नहीं होती है, यह वृक्ष ऊँचे-नीचे स्थानों में कहीं पर भी उग जाते है, ये वृक्ष ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो यह जंगलों की रक्षा कर रहे हैं-

उच्चावचस्था: कुटजा: करीरा:, कर्कन्धु-बर्बूरक-विल्व-निम्बा।
निसर्गजाता: पृथिवीरूहाश्च, तत् ताणलग्ना इव भान्ति तत्र।।[2]

महाकवि ने अपनी जन्मभूमि पढकूला की प्राकृतिक छटा का मनोहारी वर्णन किया है। आषाढ़ मास के दिनों में कृषि-कार्य हेतु वर्षा के लिए देवताओं की स्तुति की जा रही थी। कुछ दिनों बाद ही पढकूला गाँव में आसमान में जल से भरे हुए बादल गरज-गरजकर बरसे। खेती के भविष्य को कल्याणकारी समझकर समस्त नर-नारी प्रफुल्लित हो उठे। फलदार वृक्षों की बगिया उस वर्षा के जल से धुलकर और भी सुशोभित हो गयी। सड़क के दोनों और स्थित तथा राहगीरों की थकान को दूर कर देने वाले नीम के वृक्ष पन्ना नामक मणियों की शोभा को धारण किये हुए सहृदयों को प्रसन्न कर रहे थे-

अश्वत्थ-जम्बू-वट-बिल्व-शिंशपा-निम्बादि-वृक्षाश्च रसालवाटिका।
तथा प्रशस्या अमरुदवाटिका:, प्रक्षालितत्वात् सुषमा निजां दधु:।।
अपक्व-राजाध्व-तटद्वयस्थिता:, समानरुपा: समदूरतान्विता:।
समायुषस्तत्र च निम्बभूरूहा:, प्रक्षालितत्वादथ वृष्टिवारिभि:।।
हरीतिमानं दधत: स्वमुज्ज्वलं, पन्ना-श्रियं चापि ततो हि विभ्रत:।
प्रसादयन्ति स्म मन सचेतसां-घ्नन्ति स्म खेदं च तदध्वगामिनाम्।।[3]

पढकूला ग्राम में फलदार वृक्ष, औषधियुक्त वृक्षों के बगीचे तथा सुन्दर-सुन्दर ऋतुकालीन पुष्प वहाँ के वातावरण को सुशोभित एवं सुगन्धित कर रहे हैं-

जम्ब्वाख्यवृक्षा: पनसाख्यवृक्षा:, रसालवृक्षाश्च माधूकवृक्षा:।
उद्यानरुपेष्वपि संस्फुटाश्च, ग्रामोपकंण्ठे विलसन्ति हृद्या।।
नैरूज्यदा दाड़िमभूरुहाश्च, जम्बीर-नारङ्गमहीरूहाश्च।
वाटी-स्वरूपेषु च संस्फुटाश्चादशीयलक्ष्मीं परिवर्धयन्ति।।
नाना सुमानामृतुसम्भवानां, चित्ताक्षि-नासा-परितर्पकाणाम्।
हृद्यै: सुगन्धैरपि बोभवीति, तत्रत्यवातावरणं मनोज्ञम्।।[4]

*एसोसिएट प्रोफेसर-संस्कृत विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल
**शोधच्छात्रा-संस्कृत विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल, (उत्तराखण्ड)

आम के वृक्षों पर लगे फल प्रकृति की शोभा को और अधिक बढ़ा रहे हैं, जो लोगों के हृदय को अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं-

आम्रेषु तेषां फलरूपसम्पत्, स्वाकारवृद्धिं कुरुते स्म नित्यम्।
नित्यं च सा लोभ्यतरा भवन्ती, जोषं जनानां हरते स्म चित्तम्।।[5]

महुआ के वृक्ष सौन्दर्य की खान तो हैं ही, साथ-ही-साथ इनके फल व पुष्प भी लोगों को धन-दौलत आदि देते हैं, कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृति नि:स्वार्थ भाव से सब कुछ हमें समर्पित करती है-

मधूकवृक्षा: सुमसम्पदं स्वां दत्वा तदा स्वां फलसम्पदं च।
दित्सन्त आसन् निजरक्षकेभ्यो वृक्षा: स्वसर्वं ददते जनेभ्य:।।[6]

इस श्लोक के माध्यम से कवि ने प्रकृति की निस्वार्थ जनसेवा को अनायास जी प्रकट कर दिया है।

महाकाव्य के नायक श्री विद्याधर जी जब माँ जगदम्बा की तपस्या करने कालीखोह नामक स्थान में जाते हैं, तो वहाँ के वातावरण व वहाँ की हवा के स्पर्श मात्र से ही उनकी पूरी यात्रा की थकान एकाएक दूर हो जाती है-

शोभां संवीक्ष्य तत्रत्यां तदीयं मुमुदे मन:।
तत्रत्यवायुसंस्पर्शात् तस्य चाध्वश्रमोऽप्यगात्।।[7]

उस गुफा के आस-पास के विशाल वृक्ष, पूजा-अर्चना के लिए लगाये गए विभिन्न प्रकार के पुष्प मन को अपनी ओर आकर्षित कर रहे थे-

दीर्घे परिसरे तस्या आम्र-निम्बमहीरूहा:।
तिष्ठन्तो वर्धयन्ती स्मादसीयां भव्यतां शुभाम्।।
पूजा-प्रसूनदा नाना-नानाविधाश्च वीरुध:।
क्षुपा यथास्थानं तच्चारुत्वं वितेनिरे।।[8]

उस गुफा के समीप अलग-अलग आकार के तीन कुएँ भी है, जो त्रिवेणी की तरह की तरह सुशोभित हो रहे थे-

मिष्टापा विपुलायाम् परित कृतचत्वरा।
तत्र कूपत्रयी रेजे त्रिवेणी पावनी यथा।।[9]

यहाँ कवि के प्रकारान्तर से जल-संरक्षण हेतु कुओं का उल्लेख कर प्रकृति के पोषण में जल के महत्व को संकेतित किया है।

उस परिसर के दाहिनी ओर ही माँ जगदम्बा का निवास स्थान कालीगुहा सुशोभित हो रही है, जो माँ जगदम्बा ने स्वयं ही पसन्द करके अपने लिए निवास स्थान अधिगृहीत किया था-

प्राङ्गण-दक्षिणे कोणे महाकारीतिपावनी,
अत्यल्पभास्करालोपा दीपालोकप्रकाशिता।
निसर्गाप्रविशद्वाता धूप-चन्दन वासिता,
त्रिशूल शोभितद्वारा लोलोत्तुङ्गारूणध्वजा।।
तप: स्थली च शाक्तानां संन्यासिनां विरागिणाम्,
भद्रकाल्या जगन्मात्रा देव्याब्धिभुजयात्मने।
अधिष्ठिता स्वयं चित्वा पुण्या पौराणिकी शुभा,
कालीगुहा सुविख्याता बाभाति स्म जनादृता।।[10]

महाकवि दीक्षित जी ने महाकाव्य में उषाकाल (भोर) का वर्णन बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। महाकाव्य के नायक विद्याधर जी कहते हैं कि कालीखोह में प्रात: काल में पक्षियों के कलरव के द्वारा मैंने निद्रा का त्याग किया। कालीखोह के आस-पास के वृक्षों पर निवास करने वाले पक्षीगण उस समय जंगल जाने की तैयारी कर रहे थे-

कालीगुहा-क्षेत्रज-वृक्षवासा: शुका-पिकास्ते चटकाप्रधाना:।
नानाविधाश्चान्यखगास्तदानीं कुर्वन्त आसन् विपिनाय सज्जाम्।।[11]

उषाकाल के बाद सूर्योदय का भी अनुपम वर्णन कवि ने अपने महाकाव्य में किया है। सूर्योदय के समय सूर्य ऐसा प्रतीत हो रहा है, मानो वह पूर्व दिशा के माथे का तिलक है-

प्राच्या: स भाले दिननाथबिम्बो बभौ तदा तत्तिलकायमान:।
तस्यारुणाभा वदनं च तस्या: कृत्वारुणं सुन्दरतां वितेने।।[12]

भगवान् सूर्यदेव के उदय होने पर सम्पूर्ण चर-अचर प्राणी अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त हो जाते हैं। सम्पूर्ण जगत् प्रकाशमान हो जाता है। सूर्य की महत्ता ऋग्वेद में इस प्रकार बतायी गयी है-

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्ने:।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्थुषश्च।।[13]

सूर्य के उदित होने पर सभी लोग अपने-अपने कार्य करने लग जाते हैं, तथा सूर्यास्त होने पर अपना कार्य भी बन्द कर देते हैं। इसीलिए सूर्य को ही संसार का प्रवर्तक एवं निवर्तक कहा गया है। महाकाव्यकार ने सूर्य की महिमा का वर्णन इस प्रकार किया है-

अहो प्रभावो दिनसर्जकस्यादित्यस्य जीवोष्वखिलेषु सृष्टे:।
तस्मिन्नुपेते तत एव सर्वे भवन्ति लग्ना निजकार्य जाते।
तथा च तस्मिन् गत एव तेऽपि स्वकार्यजाताद् विरता भवन्ति।
सिद्ध्यत्यतो यद् रविरेव तेषां प्रवर्तकोऽस्यत्र निवर्तकश्च।।[14]

प्रकृति समस्त प्राणी को नि:स्वार्थ भाव से सब कुछ समर्पित कर देती है। अत: प्रकृति की रक्षा करना प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है। आज मनुष्य के द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति का अत्यधिक दोहन किया जा रहा है। महाकाव्य के नायक विद्याधर जी के उपनयन संस्कार में आचार्यों द्वारा दिए गए ज्ञान के माध्यम से बताया गया है कि अपना कल्याण चाहने वाले व्यक्ति को कुआँ, तालाब, देवालय, नदीतट, मरघट, पेड़ की जड़ों व रास्तों को कभी-भी प्रदूषित नहीं करना चाहिए। यह प्रत्येक व्यक्ति का उत्तरदायित्व होता है-

कूपकूले सरस्तीरे देवतालय सन्निधौ।
श्मशाने चापगाघाटे वृक्षमूले तथाध्वनि।।
मूत्रोत्सर्गो मलोत्सर्गो वा स्वं कल्याणमिच्छता।
कदापि नैव कर्त्तव्यो मर्य्यादा रक्ष्यते बुधै:।।[15]

इस प्रकार महाकवि दीक्षित ने अपने काव्य में प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों का चित्रण किया है। यद्यपि काव्य के उद्देश्य के साथ प्रकृति के प्रति कवि का दृष्टिकोण बदलता गया है तथापि प्रकृति का चित्रण शोभन, रम्य तथा स्फूर्तिदायक ही रहा है, जो उनके वास्तविक प्रकृति प्रेम का परिचायक है।

सहायक सन्दर्भ :

1. श्रीगुरुमहाराजचरितम् 2/11
2. श्रीगुरुमहाराजचरितम् 2/12
3. श्रीगुरुमहाराजचरितम् 22/16-17-18
4. श्रीगुरुमहाराजचरितम् 2/20-21-23
5. श्रीगुरुमहाराजचरितम् 4/29
6. श्रीगुरुमहाराजचरितम् 4/31
7. श्रीगुरुमहाराजचरितम् 13/3
8. श्रीगुरुमहाराजचरितम् 13/4-5
9. श्रीगुरुमहाराजचरितम् 13/9
10. श्रीगुरुमहाराजचरितम् 13/15-16-17-18
11. श्रीगुरुमहाराजचरितम् 17/8
12. श्रीगुरुमहाराजचरितम् 17/17
13. ऋग्वेद 1.115/1
14. श्रीगुरुमहाराजचरितम् 17/25-26
15. श्रीगुरुमहाराजचरितम् 7/108-109

अङ्कः (Vol.) XII वर्षम् (Year)-2022 ISSN 2231-5799

संस्कृत-वाङ्मयी

SANSKRIT-VĀṄMAYĪ

(International Peer Reviewed Refereed Research Journal)

आचार्यद्वय-स्मृति-विशेषाङ्कः

(प्रो.अशोककुमारकालिया-पद्मश्री प्रो.बृजेशकुमारशुक्ल-स्मृतिविशेषाङ्कः)

Prof. Ashok Kumar Kalia & Padma Shri Prof. Brijesh Kumar Shukla Commemoration Volume

प्रधानसम्पादकः

प्रो. प्रेमसुमनशर्मा

पदेनाध्यक्षः

संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः

लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ

सम्पादकः

डॉ. प्रयागनारायणमिश्रः

समन्वयकः

संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः

लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ

सह-सम्पादकः

डॉ. अभिमन्युसिंहः

सहा. आचार्यः

संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः

लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ

संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः

लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ-226007

वाल्मीकि रामायण में भरत का चरित्र

डॉ0 लज्जा भट्ट
संस्कृत विभाग, डी.एस.बी.परिसर,
कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल (उत्तराखण्ड)

आदि कवि महर्षि वाल्मीकि रचित 'रामायण' भारतीय संस्कृत साहित्य तथा संस्कृति की बहुमूल्य निधि है, इसमें प्रतिपादित नीतिवचन तथा आचार तत्त्व सार्वभौम सार्वकालिक तथा सर्वजनसेवनीय है। महर्षि वाल्मीकि ने अपने ग्रन्थ रामायण में भरत के वाह्य तथा आन्तरिक दोनों ही प्रकार के व्यक्तित्व पर अपनी लेखनी चलाई है। महर्षि ने भरत के चरित्र में मर्यादा, धार्मिकता, भ्रात–भक्ति, ज्येष्ठानुवृत्ति की भावना को स्थान–स्थान पर दर्शाया है।

वेद मन्त्र 'मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्' अर्थात् भाई भाई से द्वेष न करे' की शिक्षा हमें भरत के चरित्र से मिलती है। भरत की भ्राता राम के प्रति भक्ति निश्चित रूप से प्रशंसनीय है– राजा दशरथ के परलोक गमन के पश्चात् प्रवास से लौटे हुए भरत रामदर्शन के लिए अत्यन्त उत्सुक हो उठते हैं–

यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि सम्मतः।
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्ट कर्मणः।।
पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य जानतः।
तस्य पादौगृहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम।।'

जिस भरत को राज्य दिलाने हेतु ही कैकेयी ने राम को वनवास दिलाया। भरत को मातुल गृह से बुलाकर मन्त्रियों द्वारा रामवनवास तथा पिता के देहान्त की सूचना देने के पश्चात् जब उन्हें राजसिंहासन पर बैठने की अनुमति प्रदान की तो वह भरत राज्यप्राप्ति में प्रसन्न नहीं होते तथा विलाप करते हुए अचेत हो भूमि पर गिर पड़ते हैं। कवि वाल्मीकि लिखते हैं–

अभिषेक्ष्यति रामं तु राजा यज्ञं नु यक्ष्यते।
इत्यहं कृतसंकल्पो दृष्टो यात्रामयासिषम्।।[2]

अर्थात् मेरे पिता राजा दशरथ राम का राज्याभिषेक करने हेतु राजसूय यज्ञ करेंगे। यह संकल्प मन में रखकर प्रसन्न हो कर मैंने यात्रा की थी हाय! यह क्या हो गया? यह

है भरत के चरित्र की प्रथम झलकी। राज्यश्री प्राप्ति करने हेतु आजकल लोग अपने भ्राता का वध तक कर देते हैं परन्तु भरत की सज्जनता का इससे बड़ा उदाहरण और क्या हो सकता है कि राज्य प्राप्ति में भी भरत प्रसन्नता के स्थान पर विलाप करते हैं, अचेत हो जाते हैं, पुनः चेतना प्राप्त करके अपनी माता कैकेयी को धिक्कारते हुए कहते हैं–

हे माता! तूने दुःख दिया, घाव पर नमक छिड़का, पिता को मृत्यु के मुख में पहुँचाया और राम को वनवासी बनाया। इस कुल के नाशार्थ तू काल–रात्रि बनी (3)।

पितृ–भ्रातृ भक्ति परायण भरत राज्य को तिनके के समान मानते हैं–

किं नु कार्यं हतस्येह मम राज्येन शोचतः।
वहीनस्याथ पित्रा च भ्रात्रा पितृसमेन च।।[4]

भरत राम की खोज में चल पड़ते हैं। भरत का राम के प्रति प्रगाढ़ भ्रातृ भाव था। वे समझते थे कि मैं और यह राज्य दोनों ही राम के हैं क्योंकि राम मेरे लिए पूज्य हैं और वे सब प्रकार से मेरे से बड़े हैं।[5]

भ्रातृ भाव से अभिभूत होकर वे राम, लक्ष्मण और सीता के दर्शनों के लिए व्याकुल रहते हैं। उनके विचार थे कि जब तक राम, लक्ष्मण और सीता का दर्शन नहीं कर लूँगा तब तक मेरा मन अशान्त ही बना रहेगा।[6]

राम के वन से लौट आने के लिए भरत भूयशः प्रार्थना करते हैं फिर भी जब राम नहीं लौटते तब राम की चरणपादुका को शिरोधार्य कर चौदह वर्षों तक उन्होंने भी प्रतिज्ञा की कि मैं इस राजसिंहासन पर नहीं बैठूँगा। श्री राम की चरण पादुका ही इस राज सिंहासन का प्रतिनिधित्व करेगी–

चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम्।
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन।।
त्वागमनमाकांक्षन् वसन्वै नगराद् बहिः।
त्व पादुकयोर्न्यस्य राजतन्त्रं परन्तप।।
चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम।
न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्।।[7]

इस तरह का भ्रातृ–प्रेम विश्व–साहित्य अथवा अन्य इतिहास में भी देखने को नहीं मिलता है।

राम के आगमन की प्रतीक्षा में भरत की क्या दशा थी यह हनुमान के द्वारा युद्धकाण्ड में ज्ञात होती है जब लंका पर विजय प्राप्त कर श्रीराम जी अयोध्या लौटते हुए हनुमान को भरत के पास भेजते हैं–

अयोध्या नगरी से कोश भर की दूरी पर वल्कल और कृष्णाजिन धारण किये हुए दुःखी, कृश, जटिल, धूलिधूसरित, शृङ्गारहीन, भ्रात शोक में व्याकुल फलमूलाहारी, दयनीय, तपस्वी, धर्मचारी खुले केश वाले जितेन्द्रिय, भावुक, ब्रह्मर्षि सदृश भरत को राम के आदेश से हनुमान ने देखा[8] यहाँ पर भरत के त्यागी स्वरूप के दर्शन होते हैं। भरत का कितना उच्च आदर्श है? श्रीराम ने राज्य का त्याग किया दूसरे की इच्छा से अर्थात् पिता की आज्ञा से, किन्तु भरत ने राज्यश्री को त्यागा वानप्रस्थी बने स्वेच्छा से। राम के प्रति ज्येष्ठानुवृत्ति धर्म तथा मर्यादा का पालन करने हेतु भरत का त्याग राम के त्याग की अपेक्षा उत्कृष्ट है।

भरत के इन्हीं गुणों का वर्णन करते हुए श्रीसम सुग्रीव से कहते हैं कि भरत जैसे भ्राता सभी नहीं होते–

न सर्वे भ्रातस्तात भवन्ति भरतोपमाः।[9]

राजा दशरथ भी कैकेयी को समझाते हुए कहते हैं–

न कथंचिद् ऋते रामाद् भरतो राज्यमावसेत्।
रामादपि हि तं मन्ये धर्मतो बलवत्तरम्।।[10]

हे कैकेयी ! तू जिस भरत के लिए राज्य के निमित्त राम को वनवास दिला रही है वह बिना राम के किसी प्रकार भी राजसिंहासन पर नहीं बैठ सकता, क्योंकि वह धर्म में राम से भी अधिक प्रबल है, ऐसा मैं मानता हूँ।

इस प्रकार भरत का जीवन राम से कम आदर्श नहीं था। भरत में राम के प्रति भक्ति, प्रेम तथा ज्येष्ठानुवृत्ति का परिचय इससे भी मिलता है कि जब लंकाविजय कर हनुमान् राम के आगमन का कुशल सन्देश भरत को देते हैं तो राम के आगमन–कुशल सन्देश को सुनकर भरत प्रसन्न तथा हर्ष से मोहित हो भूमि पर गिर पड़े, पुनः कुछ देर में संभल कर आश्वासन के साथ प्रियवादी हनुमान का आलिंगन कर हर्षजनक प्रीति से भरे बहुत आँसुओं से उन्हें सिंचित करने लगे।[11]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भरत का जीवन भी श्रीराम की तरह ही महान् तथा अनुकरणीय है। वह भी सभी लोगों के आदर, सम्मान, पूजा, अनुकरण, व्रत एवं संकल्प के

अधिकारी हैं। भरत जैसे आदर्शवान् चरित्र की वर्तमान समय में महती आवश्यकता है।

सन्दर्भ–

1. वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड 72/32–33
2. वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड 72/27
3. वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड 73/3–4
4. वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड 73/2
5. वाल्मीकि रामायण अयोध्याकाण्ड 82/12
6. वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड 89/6
7. वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड 112/23–26
8. वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड 125/29–32
9. वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड 18/15
10. वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड 12/61–62
11. वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड 125/40–42

□□□

'भगवान् शङ्कराचार्य आविर्भूयात् पुनर्भुवि' में शङ्कराचार्य का चरित्र

डॉ० लज्जा पन्त (भट्ट)
संस्कृत विभाग
डी.एस.बी. परिसर, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

> स्थान-स्थान पर शान्त रस, अद्भुत रस, वात्सल्य भाव, भक्ति रस, रौद्र रस आदि का प्रयोग है, अंगीरस का स्थान शान्त रस को प्राप्त है। शेष रस एवं भाव इस रस के अंग है। इस काव्य के नायक भगवान् शङ्कराचार्य के हृदय में स्थित शम नामक स्थायी भाव विशिष्ट वातावरण में प्रबुद्ध होकर शान्त रस का रूप धारण कर लेता है।

आधुनिक महाकाव्यों की परम्परा में डॉ० कमला पाण्डेय का सम्मानित स्थान है। जिन्होंने अपनी वैदुष्यपूर्ण लेखनी से संस्कृत साहित्य को समृद्ध किया है। डॉ० पाण्डेय द्वारा विरचित महाकाव्यों में 'रक्षतगङ्गाम्' 'भगवान् शङ्कराचार्य आविर्भूयात् पुनर्भुवि' प्रसिद्ध हैं। इसी के अन्तर्गत 'भगवान् शङ्कराचार्य आविर्भूयात् पुनर्भुवि' में आदि शङ्कराचार्य के जीवन वृत्तान्त का वर्णन सत्रह सर्गों में किया गया है। इस महाकाव्य में कवयित्री ने एक ओर भावप्रवणता की अबाधधारा प्रवाहित की है तो दूसरी ओर दार्शनिक सिद्धान्तों का शास्त्रीय विवेचन किया है। प्रथम सर्ग का प्रारम्भ कालटी ग्राम की मनोरम सुषमा के वर्णन से हुआ है। देवताओं की प्रार्थना तथा दक्षिण प्रान्त के धर्मनिष्ठ ब्राह्मण दम्पति शिवगुरु तथा आर्याम्बा के तप तथा भक्ति से केरल प्रदेश के कालटी नामक ग्राम में भगवान् शङ्कर का अवतरण हुआ। अपने जन्म से ही अलौकिक प्रतिभा तथा सामर्थ्य का प्रदर्शन करते हुए शङ्कर ने आठ वर्ष की आयु प्राप्त करने तक वेद-वेदाङ्गों में पारंगत' प्राप्त कर लिया। माता आर्याम्बा से आज्ञा प्राप्त कर नर्मदा नदी के किनारे स्थित गोविन्दभगवत्पादाचार्य से दण्ड संन्यास दीक्षा प्राप्त कर 'शङ्करभगवत्पाद' नाम धारण किया। गुरु गोविन्दपादाचार्य जी ने इन्हें समस्त ज्ञान तथा योग में निष्णात कर ब्रह्मसूत्र पर भाष्य रचना करने की प्रेरणा दी। सोलह वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने प्रस्थानत्रयी (ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् तथा भगवद्गीता) के भाष्यकर अनेक प्रकरण ग्रन्थों तथा स्तोत्र साहित्य का निर्माण किया। व्यास मुनि के आदेशानुसार सम्पूर्ण देश में भ्रमण करते हुए शास्त्रार्थ के माध्यम से दिग्विजय कर सनातन धर्म की पताका फहराई तथा देश की चारों दिशाओं में चार आम्नाय पीठों की स्थापना वेदों के आधार पर की। आचार्य शङ्कर के दिग्विजय प्रस्थान क्रम में ही कुमारिल भट्ट से भेंट, मण्डन मिश्र तथा उभयभारती से शास्त्रार्थ आदि का सुन्दर वर्णन काव्य में किया गया है। आचार्य शङ्कर ने तत्कालीन प्रखर विद्वानों पर अपनी प्रतिभा का प्रभाव डालते हुए राजा सुधन्वा तथा नेपाल नरेश वृषभवर्मा को बौद्ध धर्म से निकालकर पुनः सनातन धर्म में प्रतिष्ठित कर कश्मीर के पण्डितों के प्रश्नों का उत्तर देते हुए सर्वत्र पीठ पर आरोहण किया। तदनन्तर हिमालय के केदार क्षेत्र में देवतागणों से प्रार्थित हो पञ्चभौतिक कलेवर का परित्याग कर कैलाश पर पुनः प्रतिष्ठित होने के वर्णन के साथ ग्रन्थ की समाप्ति पर कवयित्री द्वारा ग्यारह श्लोकों में भगवान् शङ्कराचार्य को अपनी प्रणामाञ्जलि प्रदान की गयी है। काव्य का प्रारम्भ आशीर्वादात्मक मंगलाचरण से हुआ है। इसमें कवयित्री ने अपने अन्तर्मन से अविद्यारूपी गहन अन्धकार को दूर करने हेतु प्रार्थना की है।[1] इस काव्य में 'मोक्ष' रूप पुरुषार्थ की सिद्धि का स्पष्ट संकेत है-

केदारेशमुपागतः स्थिरमतिस्त्यक्त्वा तनुं पार्थिवं।
प्राणायामपरायणः प्रमुदितो यावत्तदन्तर्हितः।
कैलासे देवगणाः प्रसूननिचयं वर्षन्ति दिव्याम्बरात्।
कैलासे परमे सदाशिवमये स्वीये महिम्नि स्थितः॥[2]

इस काव्य के नायक लोकविश्रुत भगवान् आदिशङ्कराचार्य हैं। शङ्कराचार्य में एक नायक के सभी गुण विद्यमान हैं। वह परम विद्वान्, धार्मिक, अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न, सांसारिक राग से दूर, वैदिक सनातन धर्म के उद्धारक, दुःखियों का कल्याण करने वाले हैं।[3]

महाकाव्य में विविध संवाद (शास्त्रार्थ) देखने को मिलते हैं। यथा-कुमारिल भट्ट से शास्त्रार्थ, मण्डनमिश्र से शास्त्रार्थ, उभयभारती से संवाद आदि। यथास्थान प्रकृतिवर्णन तथा नगरवर्णन किये गये हैं। स्थान-स्थान पर शान्त रस, अद्भुत रस, वात्सल्य भाव, भक्ति रस, रौद्र रस आदि का प्रयोग है, अंगीरस का स्थान शान्त रस को प्राप्त है।[4] शेष रस एवं भाव इस रस के अंग है। इस काव्य के नायक भगवान् शङ्कराचार्य के हृदय में स्थित शम नामक स्थायी भाव विशिष्ट वातावरण में प्रबुद्ध होकर शान्त रस का रूप धारण कर लेता है। क्षणभङ्गुर संसार इस रस का आलम्बन है। अन्य लोगों की स्वार्थपरता, धर्मान्धता, दर्प इत्यादि उद्दीपन विभाव हैं। त्याग की इच्छा, तपश्चरण की ओर उन्मुख होना इत्यादि अनुभाव हैं। निर्वेद, स्मृति इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं। उक्त महाकाव्य में प्राचीन शास्त्रार्थ परम्परा की जो झाँकियाँ मिलती है। चाहे वह काशी में आचार्य का चाण्डाल वेषधारी शिव से संवाद हो[5] अथवा माहिष्मती में मण्डन के मीमांसा पक्ष का खण्डन[6] सर्वत्र शान्त रस के दर्शन होते हैं। मीमांसक प्रवर मण्डन मिश्र के साथ यतिप्रवर शङ्कर के शास्त्रार्थ की झाँकी गम्भीर दार्शनिक चिन्तन की ओर मोड़ती है, जो अन्ततः शान्तरस की अभिव्यक्ति कराती है-

मण्डनः -

किं ब्रह्म तत्र किमु साधकमस्ति मानं?
सद्हेतुभिः कथमदः प्रतिपाद्यमानम्?
दृष्टं कथं क्षुतिषु नैव विधीयमानं।
यज्ञैरपि प्रचुरपुण्यफलैः प्रधानम्॥

शङ्करः -

विद्या यतः स्रुतिमवाप्य लसन्ति लोके।
वेदादयस्तु विचकासति यद् विभासा।
आम्नायतेऽप्युपनिषत्सु यदात्मतत्त्वं।
तद्ब्रह्म चिन्मयमवेहि जगन्निदानम्॥

बाल्यकाल में ही वैराग्य प्राप्त करने की इच्छा आचार्य शङ्कर अध्यात्म विद्या प्राप्त करने हेतु माँ आर्या से प्रसन्नतापूर्वक संन्यास ग्रहण करने की आज्ञा माँगते

ग्राहेण पादं खलु में गृहीतं,
षण्णक्रचक्रेण शरीरमात्रम्।
रक्षा मदीयोभयथा विधातुं,
आदिश्यतां संन्यसितुं सहर्षम्॥[8]

दशम सर्ग में मीमांसक मण्डन मिश्र के सन्देह का निवारण करते हुए भगवान् शङ्कर संसार की असारता का वर्णन करते हैं- स्वर्ग में कोई भी अमरता को प्राप्त नहीं करता। जब पुण्य की राशि भोगों के द्वारा समाप्त हो जाती है। तब जन्म-मृत्यु के पाश में बँधकर जीव संसार के भ्रमण चक्र में चढ़ जाता है, अर्थात् पुनः जन्म-मृत्यु का चक्कर काटने लगता है।[9]

द्वैतवाद का खण्डन करते हुए आचार्य शङ्कर कहते हैं कि जब व्यापक निर्मल आत्मा अविद्या की उपाधि से युक्त होता है, तब वह जीवभाव को प्राप्त होकर अपने कर्मों का अनुसरण करता हुआ संसार चक्र में घूमता है। उस अविद्या के नष्ट हो जाने पर संसार के बन्धन से मुक्त होकर अनुपहित चैतन्य शान्त और प्रमुदित हो जाता है।[10]

शङ्कराचार्य की माँ जब वृद्धा होने के कारण अशक्त हो पूर्णा नदी के तट पर जाने में असमर्थ होकर मूर्च्छित हो जाती है। तब बटु शङ्कर का 'पूर्णासुखयतुतरामत्रभवती' आदि सरस स्तुतियों से प्रसन्न हो पूर्णा नदी अचानक अपना मार्ग परिवर्तित कर देती है। उस शङ्कर के द्वारा किये गये चमत्कारों से सब विस्मित हो जाते हैं।[11]

नर्मदा नदी जो कि बाढ़ के आने पर भंयकर दिखाई दे रही थी, अपने तटबन्ध को तोड़कर तपोवन की सीमा में पहुँचकर समाधि में बैठे श्री गोविन्दपाद की गुफा में जाने को उद्यत थी। उसे शङ्कर ने अपनी योगशक्ति से अपने कमण्डल में प्रविष्ट करा कर शान्त करा दिया। इस चमत्कार को देखकर आश्चर्यचकित संन्यासी कहने लगे-अहो! यह तपस्वी तो ऋषि अगस्त्य की भाँति बड़ी सहजता से पानी को घट में समेट दे रहा है-

तस्याः पयः पूरमथाभिमन्त्र्य,
जजाप यावद् द्वदि सन्निविष्टः।
उत्तङ्गभङ्गैरतिरौद्रवेगा,
तावत्प्रशान्ता करके प्रविष्टा॥
ऊचुः चमत्कारमवेक्षमाणाः,
संन्यासिनोऽन्ये चकितास्तदानीम्।
अद्ये! कथं कुम्भजवत्तपस्वी,
घटे सलीलं सलिलं करोति॥[12]

मण्डन मिश्र की अर्धांगिनी उभयभारती के प्रश्नों का उत्तर देने हेतु जब आचार्य शङ्कर योग के बल पर अपने सूक्ष्म शरीर को राजा अमरूक के मृत शरीर में प्रवेश कराते हैं, तब अद्भुत रस की अभिव्यक्ति होती है।[13]

काव्य के परिशीलन से यह ज्ञात होता है कि आदि शङ्कराचार्य युद्धवीर तो नहीं पर धर्मवीर अवश्य हैं। उन्हें बाह्य शत्रुओं से युद्ध की कोई आवश्यकता नहीं हुई, क्योंकि उनके प्रकाण्ड तेज, विद्वत्ता के समक्ष कोई ठहर नहीं पाता था, किन्तु भीतर के शत्रुओं (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य) पर विजय प्राप्त करके भगवान् शङ्कराचार्य ने मोक्ष प्राप्त कर लिया।[14]

नायक के अभ्युदय से युक्त इस काव्य में वर्तमान में आदि शङ्कराचार्य के पुनः भूमि पर अवतरित होने की कामना स्थान-स्थान पर की गई है।[15]

महाकाव्य के लिए बताये गये प्रेमोत्सव, विवाह, मधुपान इत्यादि का वर्णन यद्यपि यहाँ पर नहीं है तथापि भगवान् के जन्माभिषेक, तपश्चरण, कैवल्य, ज्ञान, लाभ, शास्त्रार्थ आदि का विस्तार से वर्णन है। इसके अतिरिक्त काव्यशास्त्रियों द्वारा स्वीकृत महाकाव्य की सर्ग सम्बन्धी, भावपक्ष सम्बन्धी, चरित्र सम्बन्धी सभी विशेषताएँ इस काव्य में दृग्गोचर होती हैं। सद्हृदयों को प्रभावित करने में भी यह काव्य पूर्ण समर्थ है। भगवान् शङ्कराचार्य के लोकविश्रुत चरित्र को आज न केवल सनातन वैदिक धर्मानुयायी जानते हैं, अपितु भारत का प्रायः प्रत्येक प्रबुद्ध नागरिक जानता है। निर्धन ब्राह्मणी के घर में कनकधारा स्तोत्र द्वारा सोने (स्वर्ण) के आँवलों की वर्षा करवाना आचार्य शङ्कर के परोपकारी तथा परम तपस्वी जीवन का परिचय देता है।[16]

व्यासमुनि के आदेशानुसार सम्पूर्ण देश में भ्रमण करते हुए शास्त्रार्थ के माध्यम से दिग्विजय कर सनातन धर्म की पताका फहराना नायक के सनातन धर्म के व्याख्याता रूप को सिद्ध करता है।[17]

आचार्य शङ्कर में अद्भुत व्याख्यान शक्ति है। उन्होंने अपने व्याख्यानों द्वारा लोगों को सनातन धर्म के सार-तत्त्व से परिचित कराया। उनकी अद्भुत व्याख्यान शक्ति से प्रभावित होकर ही चाण्डाल, मण्डनमिश्र, उभयभारती, सांख्य, बौद्ध, जैन, भट्टभास्कर, नीलकण्ठ, शैव, पाशुपत आदि उनके वशवर्ती हो गये।[18]

आचार्य शङ्कर ने चार वेदों को आधार मानकर चार आम्नाय पीठों की स्थापना की। दिग्विजय प्रस्थान के क्रम में ही कुमारिल भट्ट से भेंट, मण्डन मिश्र तथा उभयभारती से शास्त्रार्थ करते हुए प्रखर विद्वानों के ऊपर अपनी प्रतिभा का प्रकाश एवं प्रभाव डालते हुए राजा सुधन्वा तथा नेपाल नेरश वृषभवर्मा (जिन्होंने सनातन धर्म का त्याग कर बौद्ध धर्म अपना लिया था) को बौद्ध धर्म से निकालकर पुनः सनातन मत में प्रतिष्ठित किया[19] तथा कश्मीर के पण्डितों के प्रश्नों का उत्तर देते हुए सर्वत्र पीठ पर आरोहन किया।[20]

सांसारिक प्राणियों के दुःख से दुःखी, त्रिकालज्ञ, भक्तवत्सल, सनातन धर्म के उपदेशक, भगवान् शिव के अवतार[21] भगवान् शङ्कराचार्य वास्तव में हम सबके लिए पूज्य हैं।●

सन्दर्भ सूची-

1. 'भगवान् शङ्कराचार्य आविर्भूयात् पुनर्भुवि', अवतरणिका-1-4
2. वही-17/49
3. वही-02/18-22
4. वही-8, 16, तथा 17 सर्ग
5. वही-5/34-39
6. भ० श० आ० पु०- 10/18-59
7. वही-10/16-17
8. वही-3/18
9. भ० श० आ० पु०-10/11
10. वही-6/8
11. वही-2/51-52
12. वही-4/24-25
13. वही-11/34-37
14. भगवान् शङ्कराचार्य आविर्भूयात् पुनर्भुवि, 17/44-48
15. वही, अवतरणिका-7-18
16. वही-2/17, 23
17. वही-10/14-16
18. वही-10/15-16
19. वही-17/29-30
20. वही-16 सर्ग
21. वही-17/47-50

RNI-UTTHIN/2013/51284

ISSN-0975-8739

हिन्दी अर्द्धवार्षिक

जयराम संदेश
Jairam Sandesh

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्वीकृत विशेषज्ञ समिति द्वारा मूल्यांकित शोध-पत्रिका

A Peer Reviewed, Refereed Research Journal

शक्तिपीठ विशेषांक

जुलाई-दिसम्बर 2023 | वर्ष 11 | अंक 02

₹ 50/-

धर्म-दर्शन-अध्यात्म एवं सांस्कृतिक संदर्भ पर आधृत

हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

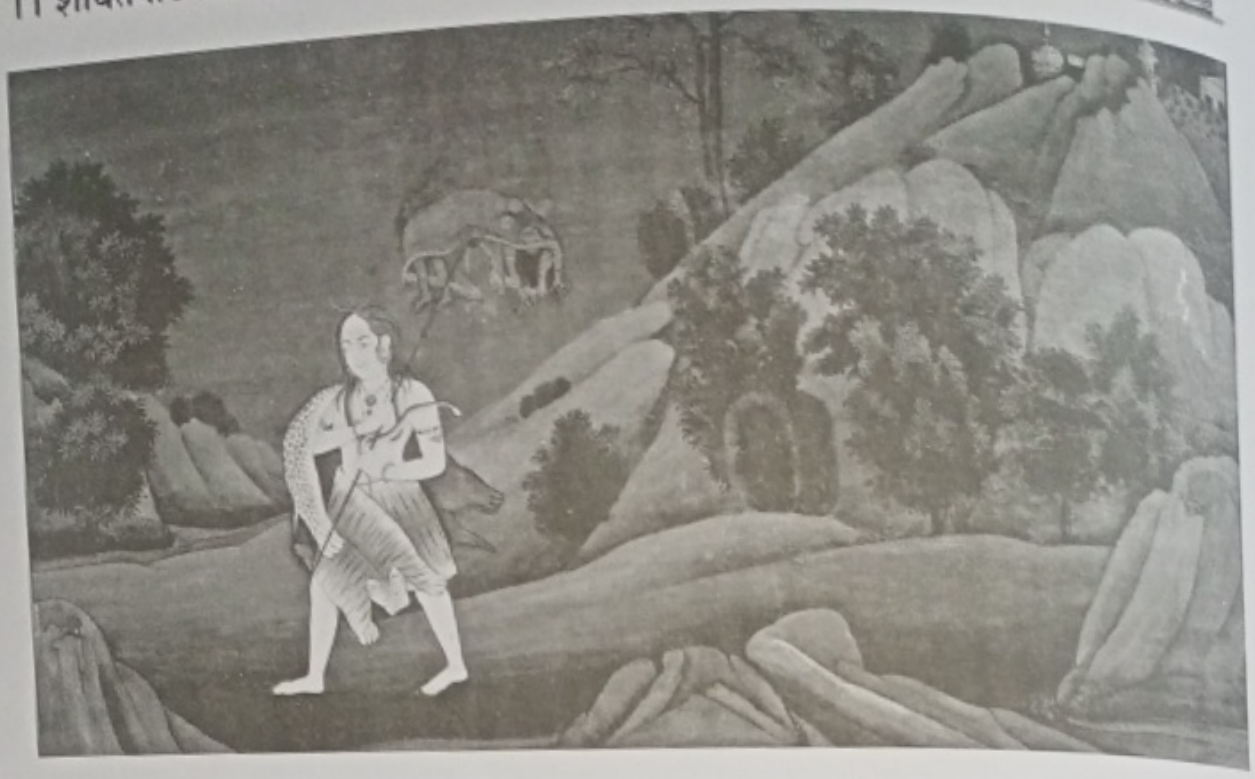

शक्तिपीठ- 'देवीभागवतपुराण' के सन्दर्भ में

डॉ. लज्जा भट्ट
एसोसिएट प्रोफेसर-संस्कृत विभाग
भावना काण्डपाल
शोधछात्रा-संस्कृत विभाग
कुमाऊँ वि.वि. नैनीताल

शक्तिपीठों का हिन्दू धर्म में विशेष महत्त्व है। पौराणिक सन्दर्भ के अनुसार जिस स्थान पर देवी सती के शरीर के अङ्ग गिरे थे, वही शक्तिपीठ कहलाए। 'देवीभागवतमहापुराण' के सप्तम स्कन्ध के तीसवें अध्याय में शक्तिपीठों की उत्पत्ति की कथा का वर्णन विस्तार से किया गया है- ऋषि दुर्वासा जम्बूनद स्थित माँ भगवती के समीप गए। उन्होंने वहाँ देवी का दर्शन किया और वहीं पर वे मायाबीज मन्त्र का जाप करने लगे। उससे प्रसन्न होकर देवेश्वरी ने दिव्य पुष्पों के पराग से परिपूर्ण होने के कारण उस पर मंडराते हुए भ्रमरों से सुशोभित अपने गले में पड़ी हुई माला मुनि को दे दी और उन्होंने सिर झुकाकर प्रसाद रूप में प्राप्त माला को स्वीकार कर लिया। तदन्तर वहाँ से तत्काल निकलकर वे तपस्वी मुनि दुर्वासा जगदम्बा के दर्शनार्थ आकाशमार्ग से वहाँ आ गए जहाँ साक्षात् सती के पिता दक्ष विराजमान थे तथा मुनि ने सती के चरणों में नमन किया-

ददौ प्रसादभूतां तां जग्राह शिरसा मुनिः।
ततो निर्गत्य तरसा व्योममार्गेण तापसः॥
आजगाम स यत्रास्ते दक्षः साक्षात्सतीपिता।
सन्दर्शनार्थमम्बाया ननाम च सतीपदे॥[1]

दक्ष ने उन मुनि से पूछा कि- हे नाथ! यह अलौकिक माला किसकी है? पृथिवी पर मनुष्यों के लिए परम दुर्लभ यह माला आपने कैसे प्राप्त कर ली? दक्ष के

इस प्रकार के वचनों को सुनकर प्रेम से विह्वलहृदय तथा अश्रुपूरित नेत्रों वाले मुनि दुर्वासा ने कहा-यह भगवती का अनुपम प्रसाद है।

तब सती के पिता दक्ष ने उन मुनि को उस माला के लिए याचना की। 'तीनों लोकों में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो देवीभक्त को न दी जा सके' ऐसा विचार करके मुनि ने वह माला दक्ष को दे दी। दक्ष ने सिर झुकाकर उस माला को ग्रहण कर लिया और उसे अपने घर में जहाँ पति-पत्नी की सुन्दर शय्या थी, वहीं पर रख दिया। उस माला की सुगन्धि से मत्त होकर राजा दक्ष रात में पशुकर्म (स्त्री-समागम) में प्रवृत्त हुए। उसी पाप-कर्म के प्रभाव से वे कल्याणकारी शंकर तथा देवी सती के प्रति द्वेषबुद्धि वाले हो गये। उसी अपराध के परिणामस्वरूप देवी सती ने सती धर्म प्रदर्शित करने के लिए उन दक्ष से उत्पन्न अपने शरीर को योगाग्नि से भस्म कर दिया फिर वही ज्योति हिमालय के घर प्रादुर्भूत हुई-

राजंस्तेनापराधेन तज्जन्यो देह एव च।
सत्या योगाग्निना दग्धः सतीधर्मविदृक्षया॥[2]

उसके बाद शिव ने अपनी कोपाग्नि से तीनों लोकों में प्रलय की स्थिति पैदा कर दी। उसी समय वीरभद्र प्रकट हुए और जब वे वीरभद्र भद्रकाली आदि गणों के साथ तीनों लोकों को नष्ट करने के लिए तत्पर हुए, तब ब्रह्मा आदि देवता भगवान् शंकर की शरण में गए।[3]

सर्वस्व-नाश हो जाने पर भी करुणानिधि परमेश्वर शिव ने उन देवताओं को अभय प्रदान किया और बकरे का सिर जोड़कर उन दक्ष प्रजापति को जीवित कर दिया। तदन्तर वे महात्मा शिव उदास होकर यज्ञस्थल पर गए और अत्यन्त दुःखित होकर विलाप करने लगे-

जाते सर्वस्वनाशेऽपि करुणानिधिरीश्वरः।
अभयं दत्तवांस्तेभ्यो वस्तवक्त्रेण तं मनुम्॥
अजीवयन्महात्मासौ ततः खिन्नो महेश्वरः।
यज्ञवाटमुपागम्य रुरोद भृशदुःखित॥[4]

तदन्तर शिव ने यज्ञशाला में जलती हुई सती को देखा और बार-बार 'हा सती ऐसा बोलते हुए उस शरीर को उठाकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में भ्रमण करने लगे। भगवान् शिव के इस प्रचण्ड रूप को देखकर सभी देवता चिन्तित हो गए। तब भगवान् विष्णु ने अपने शस्त्र से माँ सती के शरीर को अनेक भागों (अङ्गों) में काट डाला। वे अंग जिन-जिन स्थानों पर गिरे उन-उन स्थानों पर भगवान् शंकर अनेक विग्रह धारण करके प्रकट हो गए।'

शक्तिपीठों की महत्ता बताते हुए देवीभागवतपुराण में कहा गया है कि जो भी इन स्थानों में श्रद्धा के साथ महाशक्ति की पूजा-अर्चना करेंगे, उनके लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं रहेगा, क्योंकि उन स्थानों पर साक्षात् पराम्बा अपने अंगों में सदा निहित हैं। त्रिपुरारहस्य नामक ग्रन्थ में भारत के प्रधान देवी- विग्रह तथा उनके स्थानों का वर्णन मिलता है-

काञ्चीपुरे तु कामाक्षी मलये भ्रामरी तथा।
केरले तु कुमारी सा अम्बाऽऽनर्लेषु संस्थिता॥
करवीरे महालक्ष्मीः कालिका मालवेषु वा।
प्रयागे ललितादेवी विन्ध्ये विन्ध्यनिवासिनी॥
वाराणस्यां विशालाक्षी गयायां मङ्गलावती।
वङ्गेषु सुन्दरी देवी नेपाले गुह्यकेश्वरी॥
इति द्वादशरूपेण संस्थिता भारते शिवा।
एतासां दर्शनादेव सर्वपाशैः प्रमुच्यते॥
अशक्तो दर्शने नित्यं स्मरेत् प्रातः समाहितः।
तथाप्युपासकः सर्वैरपराधैर्विमुच्यते॥

देवीभागवतपुराण में जो 108 शक्तिपीठ बताए गए हैं, वे इस प्रकार हैं- वाराणसी में गौरी के मुख में निवास करने वाली देवी विशालाक्षी प्रतिष्ठित हैं, और नैमिषारण्य में वे लिङ्गधारिणी नाम से कही गयी हैं। उन्हें प्रयाग में 'ललिता' तथा गन्धमादनपर्वत पर 'कामुकी' नाम से कहा गया है। वे दक्षिण मानसरोवर में सभी कामनाएँ पूर्ण करने वाली भगवती 'विश्वकामा' कही गयी हैं। उन्हें गोमन्त पर 'देवी गोमती' मन्दराचल पर 'कामचारिणी' चैत्ररथ में 'मदोत्कय' हस्तिनापुर में 'जयन्ती' कान्यकुब्ज में 'गौरी' तथा मलयाचल पर 'रम्भा' कहा गया है।

वे भगवती एकाम्रपीठ पर 'कीर्तिमती' नामवाली कही गयी हैं। लोग उन्हें विश्वपीठ पर 'विश्वेश्वरी' और पुष्कर में 'पुरुहूता' नामवाली कहते हैं। वे देवी केदारपीठ में 'सन्मार्गदायिनी' हिमवत्पृष्ठ पर 'मन्दा' गोकर्ण में 'भद्रकर्णिका' स्थानेश्वर में 'भवानी' विल्वक में 'विल्वपत्रिका' श्रीशैल में 'माधवी' तथा भद्रेश्वर में 'भद्रा' कही गयी हैं।

उन्हें वराह पर्वत पर 'जया' कमलालय में 'कमला' रुद्रकोटि में 'रूद्राणी' कालंजर में 'काली' शालग्राम में 'महादेवी' शिवलिंग में 'जलप्रिया' महालिंग में 'कपिला' और माकोट में 'मुकुटेश्वरी' कहा गया है।

वे भगवती मायापुरी में 'कुमारी' सन्तानपीठ में 'ललिताम्बिका' गया में 'मंगला' और पुरुषोत्तम क्षेत्र में 'विमला' कही गयी हैं। वे सहस्राक्ष में 'उत्पलाक्षी' हिरण्याक्ष में 'महोत्पल' विपाशा में 'अमोघाक्षी' पुण्ड्रवर्धन में 'पाडला' सुपार्श्व में 'नारायणी' त्रिकूट में 'रूद्रसुन्दरी' विपुलक्षेत्र में 'विपुला' मलयाचल पर 'देवी कल्याणी' सह्यादिपर्वत पर 'एकवीरा' हरिश्चन्द्र में 'चन्द्रिका' रामतीर्थ में 'रमणा' यमुना में 'मृगावती' कोटतीर्थ में 'कोटवी' माधववन में 'सुगन्धा' गोदावरी में 'त्रिसन्ध्या' गंगाद्वार में 'रतिप्रिया' शिवकुण्ड में 'शुभानन्दा' देविकातट पर 'नन्दिनी' द्वारका में 'रुक्मिणी' वृन्दावन में 'राधा' मथुरा में 'देवकी' पाताल में 'परमेश्वरी' चित्रकूट में 'सीता' विन्ध्याचल पर 'विन्ध्यवासिनी' करवीर क्षेत्र में 'महालक्ष्मी' विनायक क्षेत्र में 'देवी उमा' वैद्यनाथ में 'आरोग्या' महाकाल में 'महेश्वरी' उष्णतीर्थों में 'अभया' विन्ध्यपर्वत पर 'नितम्बा' माण्डव्य क्षेत्र में 'माण्डवी' तथा माहेश्वरीपुर में 'स्वाहा' नाम से प्रतिष्ठित है। छगलण्ड में 'प्रचण्डा' अमरकण्टक में 'चण्डिका' सोमेश्वर में 'वरारोहा' प्रभासक्षेत्र में 'पुष्करावती' सरस्वती तीर्थ में 'देवमाता' समुद्रतट पर 'पारावारा' महालय में 'महाभागा' और पयोष्णी में 'पिङ्गलेश्वरी' नाम से प्रसिद्ध हुई।

तशौचक्षेत्र में 'सिंहिका' कार्तिकक्षेत्र में 'अतिशाङ्करी' उत्पलावर्तक में 'लोला' सोनभद्रनद के सङ्गम पर 'सुभद्रा' सिद्धवन में 'माता लक्ष्मी' भरताश्रम तीर्थ में 'अनङ्गा' जालन्धरपर्वत पर 'विश्वमुखी' किष्किन्धापर्वत पर 'तारा' देवदारु वन में 'पुष्टि' काश्मीरमण्डल में 'मेधा' हिमाद्रि पर 'देवी भीमा' विश्वेश्वर क्षेत्र में 'तुष्टि' कपालमोचन तीर्थ में 'शुद्धि' कामावरोहणतीर्थ' में 'माता' शंखोद्धारतीर्थ में 'धारा' और पिण्डारकतीर्थ में 'धृति' नाम से विख्यात है।

चन्द्रभागा नदी के तट पर 'कला' अच्छोदक्षेत्र में 'शिवधारिणी' वेणा नदी के किनारे 'अमृता' बदरीवन में 'उर्वशी' उत्तरकुरु प्रदेश में 'औषधि' कुशद्वीप में 'कुशोदका' अश्वत्थतीर्थ में 'वन्दनीया' वैश्रवणालय क्षेत्र में 'निधि' वेदवदन तीर्थ में 'गायत्री' भगवान् शिव के सान्निध्य में 'पार्वती' देवलोक में 'इन्द्राणी' ब्रह्मा के मुख में 'सरस्वती' सूर्य के बिम्ब में 'प्रभा' तथा मातृकाओं में 'वैष्णवी' नाम से कही गयी है। सतियों में 'अरुन्धती' अप्सराओं में 'तिलोत्तमा' और सभी शरीरधारियों के चित्त में 'ब्रह्मकला' नाम से वह शक्ति प्रसिद्ध है।[6]

देवीभागवतपुराण में इन 108 शक्तिपीठों की महत्ता बताते हुए कहा गया है कि जो इन 108 उत्तम नामों का स्मरण अथवा श्रवण करता है वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है, और अपने परम लक्ष्य भगवती के परमधाम में पहुँच जाता है। देवीभागवतपुराण में यह भी कहा गया है कि मनुष्य को विधि-विधान सहित सभी तीर्थों की यात्रा करनी चाहिए और वहाँ श्राद्ध आदि सम्पन्न करके पितरों को तृप्त करना चाहिए। तदनन्तर विधिपूर्वक भगवती की विशिष्ट पूजा करनी चाहिए और फिर जगद्धात्री जगदम्बा से किये गए अपराध के लिए बार-बार क्षमा याचना करनी चाहिए।

इस प्रकार देवीभागवतमहापुराण का अध्ययन करने पर हमें ज्ञात होता है कि वहाँ उल्लिखित शक्तिपीठों में से प्रत्येक शक्तिपीठ की अपनी विशेष महत्ता है।

सन्दर्भ सूची-

1. श्रीमद्देवीभागवतमहापुराण-7/30/29-30
2. श्रीमद्देवीभागवतमहापुराण-7/30/37
3. श्रीमद्देवीभागवतमहापुराण-7/30/34-41
4. श्रीमद्देवीभागवतमहापुराण-7/30/42-43
5. श्रीमद्देवीभागवतमहापुराण-7/30/45-46
6. श्रीमद्देवीभागवतमहापुराण-7/30/55-83

अक्षर वार्ता
अंतरराष्ट्रीय मासिक शोध पत्रिका
ISSN 2349-7521, Impact Factor - 7.125
Vol - XIX, Issue - VI, April - 2023
MSME Reg. No. UDYAM-MP-49-0005021
"AKSHARWARTA" Monthly International Refereed Journal

शुक्रनीति-वर्णव्यवस्था के सन्दर्भ में

डॉ. लज्जा पन्त (भट्ट)

एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल, उत्तराखण्ड

शोध सार:- भारतीय नीतिशास्त्र के इतिहास में शुक्राचार्य का नाम अत्यन्त आदर तथा सम्मान से लिया जाता है। आचार्य शुक्र अपने युग के एक महान् ऋषि तथा नीतिज्ञ थे। 'शुक्रनीति' राजनीति का प्रख्यापक ग्रन्थ है। जिसके अध्ययन से तत्कालीन भारतीय समाज, उसके चिन्तन तथा प्रकृति पर प्रकाश पड़ता है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत चतुवर्ण का विकास देश, काल तथा परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तनशील दृग्गोचर होता है। जो इसकी प्रगतिशीलता का परिचालक है। भारतीय समाज में वर्णव्यवस्था का प्रथम संकेत 'ऋग्वेद' के पुरूष सूक्त में है। शुक्रनीतिकार ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्र वर्णों के अतिरिक्त एक अन्य वर्ण का भी निर्धारण किया है। जिसे उन्होंने 'म्लेच्द्ध' वर्ण की संज्ञा दी है। शुक्रनीतिकार ने स्पष्ट रूप से वर्णव्यवस्था को गुण तथा कर्म के अधीन माना है। वे जन्मगत वर्णव्यवस्था को नहीं मानते, अतएव उनके द्वारा बताई गई वर्णव्यवस्था की वर्तमान समाज में अत्यन्त प्रासंगिकता है।

(बीज शब्द):- वर्ण, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, म्लेच्द्ध, शुक्राचार्य, ऋग्वेद, यजुर्वेद, ब्रह्म, शुक्रनीति।

भारतीय नीतिशास्त्र के इतिहास में शुक्राचार्य का नाम अत्यन्त आदर एवं सम्मान से लिया जाता है। आचार्य शुक्र अपने युग के एक महान् ऋषि तथा नीतिज्ञ थे। आचार्य शुक्र द्वारा रचित ग्रन्थ शुक्रनीति' में 2,200 श्लोक मौलिक तथा अन्य विविध श्लोकों को मिलाकर कुल 2,454 श्लोक है। 'शुक्रनीति' राजनीति का प्रख्यापक ग्रन्थ है। जिसके अध्ययन से तत्कालीन भारतीय समाज, उसके चिन्तन तथा प्रकृति पर प्रकाश पड़ता है। 'शुक्रनीति' सामाजिक हित तथा सामाजिक सुरक्षा की दिशा को प्रशस्त करने में हमारा मार्गदर्शन करती है। राजनीतिक तथा आर्थिक चिन्तन के अतिरिक्त 'शुक्रनीति' मानव आचरण के लिए मानदण्ड भी निहित करती है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत चतुवर्ण का विकास देश, काल तथा परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तनशील दृग्गोचर होता है। जो इसकी प्रगतिशीलता का परिचायक है। वर्णव्यवस्था को जानने से पूर्ण वर्ण शब्द का विवेचन आवश्यक है।

वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति:- 'वर्ण' पद की रचना 'वृञ्वरणे' धातु से निष्पन्न होती है। इसका अर्थ है - चुन लेना। मनुष्य अपने स्वभाव तथा योग्यता के आधार पर अपना वर्ण चुनता है। आचार्य यास्क ने वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति 'वृञ्' धातु से मानी है- 'वर्णो' वृणोते:' जिसका अर्थ है- चुनाव करना [1]। ऋग्वेद में 'वर्ण' शब्द 'रंग' तथा 'जनसमूह' के रूप में ही आया है [2]। वामन शिवराम आप्टे के वर्ण शब्द को वर्ण धातु से 'वृञ्' प्रत्यय पूर्वक निष्पन्न बताते हुए इसके अर्थ किये हैं- रंग रूप, सौन्दर्य, मनुष्यप्रेमी, जनजाति, कबीला, ब्राह्मणादि जाति, वंश आदि [03]। कार्यविभाजन हेतु समाज को विभिन्न योग्यता के व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। क्योंकि एक व्यक्ति समाज में सभी कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता है। विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न प्रकार के गुण तथा योग्यताएँ होती हैं। इन्ही गुणों तथा योग्यता के आधार पर वह समाज में अपना स्थान बनाता है तथा कार्य करता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर प्राचीन ऋषियों ने समाज के संचालनार्थ चार वर्णों का विभाजन किया था। वैदिक दर्शन का मूर्धन्य कर्म सिद्धान्त धार्मिक परिप्रेक्ष्य में वर्णों के जीवन में भी चरितार्थ होता है। अत: यह माना गया कि शुभकर्म करने वालों का जन्म उच्चवर्णों में तथा निकृष्ट कर्म करने वालों का जन्म अशुभ योनियों में होता है।

वर्णव्यवस्था का प्रारम्भिक भाग साक्षी है कि बहुत पहले वर्णव्यवस्था नहीं थी। परिवार के सदस्य अपनी इच्छानुसार भिन्न-भिन्न कार्य करते थे। ऋग्वैदिक ऋषि का कहना है-

कारूरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना। [4]

भारतीय समाज में वर्णव्यवस्था के प्रारम्भ का प्रथम संकेत 'ऋग्वेद' के पुरूष सूक्त में है। हमारा संस्कृत साहित्य मानता है कि वर्णचतुष्टय की व्यवस्था ईश्वर द्वारा स्थापित की गई है। ऋग्वेद का अधोलिखित मन्त्र इस मान्यता का प्रारम्भिक सूत्र है-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहूराजन्य: कृत।
ऊरू तदस्य यद्वैश्य: पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।[5]

ऋग्वेद के पुरूष सूक्त के मन्त्र से वर्णव्यवस्था का प्रथम परिचय मिलता है। इसी के माध्यम से विभिन्न वर्णों के कर्तव्यों की सूचना भी प्राप्त होती है। ब्राह्मण पुरूष का मुख है, जिस प्रकार मुख शरीर के सभी अंगों में श्रेष्ठ है। उसका कार्य विचार करना, विद्याध्ययन करना, शारीरिक क्रियाओं का नियन्त्र करना आदि है। उसी प्रकार ब्राह्मण समाज में सर्वश्रेष्ठ होते हैं। वे अध्ययन-अध्यापन में संलग्न रहते हैं। तथा समाज का मार्गदर्शन करते हैं। क्षत्रिय पुरूष की भुजाएँ हैं। जिस प्रकार भुजाऐं शरीर की रक्षा करती हैं। उसी प्रकार क्षत्रियों का कर्तव्य भी समाज की रक्षा करना है। वैश्य पुरूष के उरू हैं। जिस प्रकार उरू शरीर का पोषण करते हैं। उसी प्रकार वैश्य समाज का पोषण करते हैं। पुरूष के पैर शूद्र हैं। जिस प्रकार पैर शरीर की सेवा करते हैं। उसी प्रकार शूद्र भी समाज की सेवा करते हैं।

यजुर्वेद संहिता में भी समाज को चार वर्णों में विभाजित किया गया है-

रूचं नो धेहि ब्राह्मणेषु, रूचं राजसु नस्कृधि।
रूचं विश्येषु शूद्रेषु, मयि धेहि रूचा रूचम् ।। [6]

यजुर्वेद के अनुसार स्वयं को अध्ययन हेतु समर्पित करने वाला ही ब्राह्मण है। युद्ध की अध्ययनात्मक तथा क्रियात्मक शिक्षा हेतु समर्पित क्षत्रिय

है। धनोपार्जन सम्बन्धी ज्ञान से परिपूर्ण वैश्य है। जिस पर देश तथा जनता के भरण-पोषण तथा समृद्धि का उत्तरदायित्व है। देश की अर्थव्यवस्था का संचालन वैश्य का कर्तव्य है। जो अन्य सम्पूर्ण गुणो से हीन हो उसको समाज की सेवा का कार्य समर्पित किया गया था तथा उसे शूद्र वर्ण मे रखा गया । इसी प्रकार का भाव अथर्ववेद में भी देखने को मिलता है-

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्व पश्यत उत् शूद्र उतार्ये।।[7]

महर्षि वेदव्यास ने भी माना है कि वर्णो मे विशेष भेद नहीं है क्योंकि यह सारा संसार ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है तथा वर्णभेद कर्मगत ही है-

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्व ब्राह्मणमिदं जगत्।
ब्राह्मणापूर्वसृष्टं हि कर्मणा वर्णतां गतम।।[8]

अर्थात् ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण सभी व्यक्ति ब्राह्मण थे। जब उनमें गुण, कर्म का भेद देखा गया, तभी अन्य तीनों वर्णों की परिकल्पना की गई। भारतीय साहित्य का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि हमारे समाज में वर्णविभाजन का सिद्धान्त गुण-कर्म तथा जन्म इन दो आधारों पर निर्धारित किया गया है। चूँकि हमारा विवेच्य विषय शुक्रनीति है: अत: उक्त ग्रन्थ के आधार पर यदि अवलोकन करें तो शुक्रनीतिकार आचार्य शुक्र वर्णव्यवस्था को गुण-कर्मगत मानते हुए कहते हैं-

न जात्या ब्राह्मणाश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव न।
न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदिता गुणकर्मभि:।।
ब्रह्मणस्तु समुत्पन्ना: सर्वे ते किं नु ब्राह्मणा:।
न वर्णतो न जनकाद् ब्रह्ममतेज: प्रपद्यते।।।[9]

अर्थात् इस संसार में जन्म से कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा म्लेच्छनहीं होता है, वस्तुत: गुण तथा कर्म के भेद से ही होता है। सम्पूर्ण जीव ब्रह्म से उत्पन्न हुए है। अतएव वे सभी क्या ब्राह्मण कहे जा सकते हैं? नहीं, क्योंकि वर्ण से तथा पिता से ब्रह्मतेज नहीं प्राप्त होता है।

इस प्रकार वर्णव्यवस्था को गुणकर्ममूलक होने के कारण वंशानुक्रमण के प्रभाव से रहित मानना चाहिए, जैसा कि महाभारत के 'शान्तिपर्व' में वर्णन मिलता है जन्म की दृष्टि से इन्द्र को ब्राह्मण (ब्राह्मण का पुत्र) माना जा सकता है। किन्तु उसके गुण तथा स्वभाव के कारण उसे क्षत्रिय माना गया -

'इन्द्रो वै ब्राह्मण: पुत्र: क्षत्रिय: कर्मणाऽभवत।[10]

शुक्रनीतिकार ब्राह्मण की उत्पत्ति के विषय में अपना मत व्यक्त करते हैं-

ज्ञानकर्मोपासनाभिर्देवताराधने रत:।
शान्तोदांतो दयालुश्च ब्राह्मणश्च गुणै: कृत:।।[11]

अर्थात् ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड तथा उपासनाकाण्ड का प्रकाण्ड विद्वान्होता हुआ देवता की आराधना में लीन, शान्तचित्त, इन्द्रियों का दमन करने वाला, दयालु होना इन सब गुणों से ब्राह्मणों का निर्माण हुआ है। स्पष्ट है कि उपर्युक्त गुण ही ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ बनाने में समर्थ हैं। इन्हीं गुणों के कारण ब्राह्मण को मन्त्री, पुरोहित, अध्यापक, लोकनायक आदि पदों पर नियुक्त किया जाता था। प्राचीन काल के वशिष्ठ, अगस्त्य, नारद, याज्ञवल्क्य, चाणक्य आदि ब्राह्मण महापुरूष आज के मन्त्रियों तथा अध्यापकों के आदर्श हैं। क्षत्रिय की उत्पत्तिविषयक मत का प्रतिपादन करते हुए शुक्रनीतिकार कहते हैं-

लोकसंरक्षणे दक्ष' शूरो दांत: पराक्रमी।
दुष्टनिग्रहशीलो य: स वै क्षत्रिय उच्यते ।।[12]

अर्थात् जनता की भली-भाँति रक्षा करने में चतुर, शूर, इन्द्रियों का दमन करने वाला, पराक्रमयुक्त, स्वभावत: दुष्टों को दण्ड देने वाला जो है, वह इन गुणों से 'क्षत्रिय' कहलाता है।

क्षत्रियोचित गुणों को धारण करने के कारण ही परशुराम यद्यपि जन्म से ब्राह्मण थे तथापि अपने गुणकर्म से क्षत्रिय की श्रेणी में गिने गये। महाकवि कालिदास ने भी क्षत्रिय शब्द की परिभाषा बताते हुए कहा है-

'क्षतात्किल त्रायत इत्युग्र: क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढ:।[13]

अर्थात् 'क्षतात् त्रायते इति क्षत्र:'- विनाश से जो बचाता है, वही क्षत्रिय है। महाकवि कालिदास ने अपने काव्यो मे विविध स्थानों पर क्षत्रियों को दुष्टों का दमन करके अपना नाम सार्थक करने की प्रेरणा दी है।[14]

समाज में भरण-पोषण का भार वैश्यों को वहन करना पड़ता था। अत: गुण कर्मानुसार उनका लक्षण प्रस्तुत करते हुए शुक्रनीतिकार कहते है।

क्रयविक्रयकुशला ये नित्यं पण्यजीविन:।
पशु रक्षाकृषिकरास्ते वैश्या: कीर्तिता भुवि।।[15]

अर्थात् जो लोग क्रय (खरीदना), विक्रय (बेचना) करने में कुशल, नित्य दुकानदारी से जीविका चलाने वाले, पशुपालन तथा कृषिकर्म (खेती) करने वाले होते हैं। वे संसार में वैश्य कहलाते है।

उक्त विवरण से प्रतीत होता है समाज के भरण-पोषण का भार वैश्यों को वहन करना पड़ता था। समाज के आर्थिक विकास का उत्तरदायित्व इन्हीं पर था। तात्पर्य है कि तत्कालीन आर्थिक नीति निर्धारण का कार्य वैश्यो पर ही निर्भर था। अत: शुक्रनीतिकार के अनुसार जो कोई भी व्यक्ति पूर्वोक्त श्लोक में बताई गई विशेषताओं से युक्त हो उसे 'वैश्य' की श्रेणी में रखा जाना चाहिए। यह निर्धारण गुण, कर्म के आधार पर ही सिद्ध हो सकता है। भारतवर्ष प्राचीनकाल से ही कृषि प्रधान देश रहा है। इसीलिए कृषि के साथ-साथ पशुपालन को भी आवश्यक माना गया, स्पष्ट है कि वैश्य सम्बन्धी कार्यों के अभाव में राष्ट्र का आर्थिक स्त्रोत शुष्क हो जायेगा। अतएव 'वैश्य' वर्ण का अत्यन्त महत्व है। वर्तमान समाज में भी ऐसे व्यापारियों की आवश्यकता है। जो परिश्रमपूर्वक व्यापार करके देश की 'अर्थनीति' को नष्ट होने से बचाएँ। शुक्रनीतिकार ने शूद्र की परिभाषा का निर्धारण करते हुए कहा है-

द्विजसेवार्चनरता: शूरा: शांता जितेन्द्रिया:।
सीरकाष्ठतृणवहास्ते नीचा: शूद्रसंज्ञका: ।।[16]

अर्थात् जो लोग द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) जाति की सेवा में निरत, शूर, शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, हल, काष्ठ तथा तृण (घास आदि) का भार वहन करने वाले होते हैं वे 'शूद्र' कहलाते हैं। वेदों में शूद्रों की उत्पत्ति ब्राह्मण के चरणों (पैरों) से बताई गई है। शरीर में जो स्थिति पैरों की है। समाज में वही स्थिति शूद्रों की है। पैर व्यक्ति को उसके गन्तव्य तक ले जाते हैं। उसे गतिशील रखते है। शूद्र भी समाज के अन्य वर्गों को उनके गन्तव्य तक पहुँचाने में अपेक्षित सहायता करते हैं। शुक्रनीतिकार द्वारा शूद्र के सम्बन्ध मे दिये गये उपर्युक्त लक्षण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिस व्यक्ति में पूर्वोक्त तीनों प्रकार के (ब्राह्मण ,क्षत्रिय, वैश्य, द्वारा किये जाने वाले) कर्मों को करने की क्षमता न हो अथवा जो सेवाभाव में दक्ष, भार वहन आदि कार्य करने की कला में प्रवीणता आदि गुणों से युक्त हो वह शूद्र की श्रेणी में आयेगा। शुक्रनीतिकार ने ब्राह्मण ,क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्र इन चार वर्णों के अतिरिक्त एक अन्य वर्ण (जिसे पाँचवाँ वर्ण कहा जा सकता है) का भी निर्धारण किया है। जिसे उन्होंने 'म्लेच्छ' वर्ण की संज्ञा देते हुए कहा है-

त्यक्तस्वधर्माचरणा निर्घृणा: परपीडका:।
चंडाश्च हिंसका नित्यं म्लेच्छास्ते ह्यविवेकिन:।।[17]

अर्थात् जो लोग स्वधर्माचरण का परित्याग करने वाले, दयाशून्य, दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाले, अत्यन्त क्रोधी तथा हिंसा करने वाले होते हैं वे 'म्लेच्छ' कहलाते हैं। उनमें विवेक का लेशमात्र भी नहीं होता है।

इस प्रकार हम देखते है कि शुक्रनीतिकार ने स्पष्ट रूप से वर्ण व्यवस्था को गुण तथा कर्म के अधीन माना है। वे जन्म गत वर्णव्यवस्था को नहीं मानते, अतएव शुक्रनीतिकार द्वारा बताई गई वर्णव्यवस्था की वर्तमान समाज में अत्यन्त प्रांसगिकता है।

सन्दर्भ सूची:-

1. निरूक्त 3/2
2. ऋग्वेद 1/17/96, 2/2/4
3. संस्कृत हिन्दी कोश पृ0 901
4. ऋग्वेद 9/11/3
5. ऋग्वेद 10/10/12
6. यजुर्वेद 1/8/48
7. अथर्ववेद 19/62/1
8. महाभारत, शान्तिपर्व 188/10
9. शुक्रनीति, प्रथमाध्याय, श्लोक सं0 38-39
10. महाभारत, शान्तिपर्व 22/11
11. शुक्रनीति, प्रथमाध्याय, श्लोक सं0 40
12. शुक्रनीति, प्रथमाध्याय, श्लोक सं0 41
13. रघुवंश, द्वितीयाध्याय, श्लोक सं0 53
14. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 1/23, 5/8, 5/14
15. शुक्रनीति, प्रथमाध्याय, श्लोक सं0 42
16. शुक्रनीति, प्रथमाध्याय, श्लोक सं0 43
17. शुक्रनीति, प्रथमाध्याय, श्लोक सं0 44